

किया और वापिस हुए। इसी प्रकार आवश्यकता पड़ने पर कार्य निकाल लेना चाहिए, परन्तु इसके लिये सदैव सावधान रहना चाहिए ऐसे लोगों के पास अधिक समय न बीते, नहीं तो कोई कितना भी बुद्धिमान् हो संसर्ग का प्रभाव कुछ-न-कुछ पड़ ही जाता है। वर्णाश्रम-धर्म में जो स्पृश्यास्पृश्य का इतना अधिक विवेक रखा जाता है, उसका कारण यही है कि कहीं तमोगुण या रजोगुण-प्रधान वातावरण के दूषित प्रभाव के संक्रमण से सत्त्व-प्रधान वातावरण दूषित न हो जाय, इसलिए विषयी, पामर और कुत्सित भावना-वाले मनुष्यों के संसर्ग से अपने को बचाये रखना और वर्णाश्रमोचित स्पृश्यास्पृश्य का पूर्ण विचार अपने आहार-व्यवहार में रखना आत्मोन्नतिशील प्राणी के लिए परम आवश्यक है।



सदा भगवान् की गोद में हो

[दिल्ली में होने वाले ऐतिहासिक 'शतमुख कोटि होमात्मक महायज्ञ' के पश्चात् सन् 1943 की शिवरात्रि-महोत्सव के समय दिल्ली शिविर, भागीरथ पैलेस, में दिये हुए उपदेश का सारांश]

भगवान् को यदि अपने से दूर माना जायेगा तो वे दूरातिदूर हो जायेंगे और यदि समीप मानकर उनकी उपासना की जायेगी तो वे सदा सन्निकट ही रहेंगे। जिस प्रकार पानी भरने वाली स्त्री अपने सिर पर और एक हाथ में पानी के घड़े रख लेने पर भी दूसरा हाथ अपने बच्चे को लेने के लिए खाली रखती है और जब उसका बच्चा उसके चरण पकड़कर ऊपर चढ़ने का प्रयत्न करता है तब वह अपने खाली हाथ से उसे ऊपर उठा लेती है, उसी प्रकार भगवान् समस्त विश्व का कार्य करते हुए अपने भक्त बच्चों को उठा लेने के लिए सदैव खाली रखते हैं। रोते हुए जाकर उनके चरणों में लिपटने की देर है कि वे स्वयं तुन्हें ऊपर उठाकर अपनी गोद में बिठा लेंगे। विश्वास करो और नग्न हृदय से उनसे प्रार्थना करो; वे सदैव तुम्हारे साथ हैं, तुम्हारे अन्दर ही हैं; कहीं दूर खोजने की आवश्यकता नहीं है; केवल

॥ श्री शंकराचार्य वचनामृत ॥

सुख-शान्ति कैसे मिले ?

[प्रयाग में एक बार एक राजा ने दर्शनार्थ आकर लौकिक शान्ति और पारलौकिक आनन्द-प्राप्ति का उपाय पूछा। उसके उत्तर में दिये हुए श्रीचरण के उपदेश का यह सारांश है।]

लौकिक अशान्ति के प्रधान कारण अपने ही हृदय में स्थित काम (कामनाएँ), क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर्य हैं। यही परमार्थ-प्राप्ति में भी प्रधान बाधक हैं।

यही आन्तरिक छः सूक्ष्म शत्रु बाह्य जगत् में किसी को निमित्त बनाकर शत्रु-मित्र खड़ा कर लेते हैं और उसी के राग-द्वेष में व्यस्त रहता हुआ जीव सदा अशान्त रहता है, इसलिए शान्ति प्राप्त करने के लिए यह परम आवश्यक है कि इन आन्तरिक छः शत्रुओं का दमन किया जाय।

ये आन्तरिक छः शत्रु अन्तःकरण में रजोगुण और तमोगुण के ही विकार हैं, इसलिए इनका दमन अन्तःकरण में सतोगुण की प्रधानता होने पर ही सकता है। इसके लिए शास्त्र-सम्मत जीवन-चर्या रखते हुए सात्त्विक आहार-विहार, सत्संग और शास्त्र-विचार परमावश्यक है। इससे अन्तःकरण में सतोगुण की वृद्धि होकर विवेक उत्पन्न होगा और उसके द्वारा षडरिवर्ग का स्वाभाविक दमन होकर अशान्ति का कारण निर्मूल हो जायेगा।

इसके साथ-साथ पारमार्थिक आनन्द के अनुभव के लिए गुरुपदिष्ट मार्ग द्वारा जप-ध्यान आदि करते हुए साधन का अभ्यास बढ़ाना होगा। जिस प्रकार लौकिक अशान्ति के मूल कारण काम, क्रोधादि अपने ही अन्दर हैं, उसी प्रकार अखण्ड आनन्द का समुद्र—परमात्मा—भी अपने अन्दर ही है। गुरुपदिष्ट उपायों द्वारा उसका अनुभव अपने ही अन्दर किया जाता है और तब जीव उपासना की परिपक्वस्था में सच्चिदानन्द के अखण्ड आनन्द-सिन्धु में प्रवेश कर जाता है।

यही जीवनमुक्ति की अवस्था होती है और यही इस जीवन-काल में परमात्मानन्द के अनुभव की पराकाष्ठा है। मनुष्य सद्गुरु की प्राप्ति कर उनके बताए हुए उपासना-प्रकार का श्रद्धा-विश्ववापूर्वक अभ्यास करें तो वह अपनी उपासना-क्रम में स्वयं अनुभव करता हुआ सद्गुरु के इंगित पर आगे बढ़ता जायेगा और अन्त में आत्मज्योति से चिर-प्रकाशित अखण्ड आनन्द के क्षेत्र में प्रवेश कर मनुष्य-जीवन को सफल कर लेगा।

संक्षेप में यही लौकिक शान्ति और पारलौकिक आनन्द प्राप्ति के उपाय है।

अतीतकाल से जिस धर्म-प्राण भारतदेश के कोने-कोने में दैवी-शक्ति-द्योतक प्रत्यक्ष चमत्कारिक घटनाएँ भक्तों द्वारा प्राप्त होती आई हों वहाँ दैवी शक्ति के केन्द्र-इन मठ-मन्दिरों की—ओर आधुनिक सभ्य-समाज की उपेक्षा दृष्टि हो यह हिन्दुत्व पर घोर कलंक और हिन्दू-राष्ट्र के लिए अत्यन्त शोचनीय दशा है। हिन्दू-समाज यदि अपना कल्याण चाहता है तो उसे इस दुर्व्यवस्था को सुधारना होगा।

देवताओं की आकार मूर्ति की प्राण-प्रतिष्ठा (उस मूर्ति में सूक्ष्म दैवी शक्त्याधान) हो जाने पर उसका पूंजन, राग, भोग आदि विधिवत् होना अत्यन्त आवश्यक है। ऐसा होने से ही सेवक (पूजक अथवा उपासक) पर देवता प्रसन्न होकर उसे इच्छित फल प्रदान करते हैं, परन्तु ऐसा न होने पर अवहेलना करने वालों पर दैवी अप्रसन्नता अवश्यम्भावी है। अतएव देव-स्थानों के प्रबंधकों को चाहिए कि इस सम्बन्ध में वे अपना कर्तव्य श्रद्धा-भक्ति सहित यथोचित पालन करें। यदि देवालयों के वर्तमान प्रबंधक अपने कर्तव्य का यथोचित पालन नहीं करते तो वे अपनी अकर्मण्यता अथवा दुष्कर्मण्यता के द्वारा देश के लिए दैवी अप्रसन्नता का कारण बनते हैं। यदि समाज दैवी कृपा प्राप्त कर सुख-शान्ति का उपभोग करना चाहता है तो उसे उन्हें सुव्यवस्थित करने के लिए कटिबद्ध हो जाना चाहिए।

(02)

प्रायः सभी स्थानों में देवालयों के निर्माताओं ने इनके संचालनाय जो स्थायी सम्पत्ति भेंट की है उसका सद्व्यय होता है या नहीं, इस पर भी दृष्टि रखना समाज का कर्तव्य है। जिन कार्यों से देवता प्रसन्न होते हैं उन्हीं में देवार्पित सम्पत्ति का व्यय होना उसका सदुपयोग है, अन्यत्र व्यय करने से देवार्पित द्रव्य का अपमान और दैवी इच्छा की अवहेलना----



विषयी का संग विषय से अधिक भयावह है

वातावरण का प्रभाव मनुष्य पर बहुत पड़ता है। संसर्ग से ही दोष और गुण उत्पन्न होते हैं। विषयों का सम्बन्ध तो सदा ही त्याज्य है, किन्तु साक्षात् विषय उतना बाधक नहीं है जितना विषयी का सदा संसर्ग। विषय का सम्बन्ध एक बार होने से फिर उसके परिणाम में ध्यान देने पर मनुष्य उसे भविष्य में त्याग सकता है, परन्तु यदि विषयी का सम्बन्ध हो जाय तब तो सुधार की आशा अधिक नहीं। विषय तो साक्षात् अग्नि है, पर विषयी लोग अग्नि के सान्निध्य में रखे हुए चिमटे के समान हैं। अंगार को हाथ से उठाकर जल्दी से किसी दूसरे स्थान पर रख सकते हो। हाथ क्षणिक सम्पर्क से नहीं जलेगा, परन्तु तप्त चिमटे को छूते ही फफोला पड़ जायेगा। **इसी प्रकार साक्षात् विषय-रूपी अग्नि का सम्बन्ध उतना भयावह नहीं होता, जितना विषयी का संसर्ग।**

सूर्य की साक्षात् किरणों का सम्बन्ध उतना कष्टदायी नहीं होता जितना उनसे उत्तप्त बालुका का स्पर्श। इसलिए विषय का सम्पर्क तो बचाना ही चाहिए, किन्तु विषयी लोगों का संसर्ग न हो—इसके लिए अधिक सावधान रहने की आवश्यकता है।

व्यवहार में यदि विषयी मनुष्यों का सम्बन्ध कहीं अनिवार्य ही हो जाय, तो उनसे उतना ही सम्बन्ध रखना चाहिए जितना पुरीषालय से रखा जाता है। आवश्यकता पड़ने पर सबको पाखाने में जाना ही पड़ता है, परन्तु वहाँ अधिक नहीं ठहरते। कार्य

(03)

भिगों नहीं सका और पृथ्वी की कठोरता उनके लिये कोमल हो गई। तात्पर्य यह कि जो सर्व-शक्तिमान का प्रिय भक्त हो जाता है इसके अनुकूल सब कुछ हो जाता है। शास्त्र से भी यही प्रमाणित है और भक्तों का अनुभव भी यही कहता है। भगवत्भक्त अजेय होता है। न वह किसी के द्वारा पराजित होता है और न कोई उसको जीत सकता है।



संसार में असम्भव कुछ नहीं है

संसार में मनुष्य के लिये असम्भव कुछ नहीं है। भारतीय सन्तान ने सब कुछ सम्भव कर भी दिखाया है। महर्षियों की संकल्प-सिद्धि की गाथायें प्रसिद्ध हैं और आज भी लोग उसका अनुभव करते ही हैं। पुरुषार्थ एक ऐसी वस्तु है जिसके समक्ष असम्भव कुछ है ही नहीं।

पुरुषार्थ हो और उचित अर्थात् वैध पुरुषार्थ हो तो कौन-सा ऐसा कार्य है जो सिद्ध न हो जाय। जहाँ पुरुषार्थ है वहीं सफलता है। प्रबल पुरुषार्थ के सामने प्रारब्ध भी घुटने टेक देता है। इसलिये विहित ढंग से पुरुषार्थ करने पर भी कहीं सफलता नहीं मिले तो भी कार्य को असाध्य नहीं मानना चाहिये। असाध्य कुछ भी नहीं है, यह हो सकता है कि बैल का भार बकरी के लिये असाध्य मालूम पड़े परन्तु ऊँट के लिये वह असाध्य नहीं इसी प्रकार पुरुषार्थहीन बलहीन मनुष्य के लिये कोई कार्य चाहे असाध्य लगता हो परन्तु पुरुषार्थवान सबल पुरुष के लिये संसार में कुछ भी असम्भव नहीं है।



उपासना का प्रकार समझकर कुछ समय तक कार्य करो, तुम्हें स्वयं अनुभव होने लगेगा कि तुम सर्वदा अनन्त-शक्ति-सम्पन्न, चिदानन्दधन, आनन्द-रूप भगवान् की गोद में हो।



कल्याण-पथ

[भगवत्पूज्यवाद श्रीआचार्यचरण ने पीठ-भवन, श्रीज्योतिर्मठ, में प्रथम चातुर्मास्य व्रत करते हुए ता. 09-06-1944 को समस्त धार्मिक प्रजा के कल्याणार्थ निम्नलिखित सूक्ष्म पवित्रोदेश का प्रकाश किया था।]

यह अनुभव सिद्ध निर्विवाद सिद्धान्त है कि सूक्ष्म दैवी सत्ता स्थूल जगत की नियामक एवं आधार है—देवतागण बुद्धि के प्रेरक, कर्मों के संचालक और उनके फलदाता हैं। अतएव शारीरिक, मानसिक अथवा आध्यत्मिक किसी भी प्रकार की उन्नति के लिए यह परमावश्यक है कि मनुष्य केवल अपनी बुद्धि के सहारे ही कार्य न करे, अपितु अनन्त-शक्ति सम्पन्न दैवी जगत की कृपा प्राप्त करने के लिए किसी देवता को अपना इष्ट बनाकर शास्त्र-विहित उनकी उपासना करे। ऐसा करने से कुछ ही समय में आराध्य देव प्रसन्न होकर उपासक के सर्व मनोरथ पूर्ण करेंगे।

धर्म-शास्त्र में देवताओं की उपासनाओं के ऐसे-ऐसे विधानों का निर्देश है जिनके द्वारा दैवी शक्ति प्राप्त करके मनुष्य कठिन-से-कठिन कार्य भी सुगमता से सम्पन्न कर सकता है। मनुष्य के लिए असम्भव कुछ भी नहीं है—यदि उसके अन्तःकरण में ईश्वर के प्रति विश्वास और श्रद्धा, भक्ति तथा दृढ़ उपासना की क्षमता हो। अतएव प्रत्येक का यह परम कर्तव्य है कि वह अपनी लौकिक

और पारलौकिक उन्नति के लिए अपनी शक्ति भर दैवी उपासना में संलग्न रहे। यही है सूत्र रूप से समस्त उन्नति का मूल उपाय—विश्व का वास्तविक कल्याण-पथ।



स्थायी संगठन का आधार—इष्ट की व्यापकत्वानुभूति

[प्रयाग में ता. 04-06-1946 को दिये गये उपदेश का सारांश]

वेद-शास्त्रानुकूल नित्य नैमित्तिक कर्मानुष्ठान करते हुए सद्गुरुरूपदिष्ट मार्ग द्वारा अधिकारानुसार भगवदुपासना करने वाले राजमार्गावलम्बी हैं। इन्हें कभी भी भ्रम में नहीं हो सकता और अभीष्ट सुख-शान्ति की प्राप्ति इनके लिए निश्चित है।

जो लोग वेद-शास्त्र से सम्बन्ध नहीं रखते केवल साम्प्रदायिक नियमों का पालन अथवा मनमुखी मार्गावलम्बन करते हैं वे मानों राजमार्ग छोड़कर पगडंडी का अवलम्बन कर रहे हैं। पगडण्डियाँ राजमार्ग से ही निकलती हैं, परन्तु वे गन्तव्य स्थान की ओर कहाँ तक साधक को पहुँचा सकती हैं, यह नहीं कहा जा सकता, क्योंकि पगडण्डियों में चलने वालों के लिए मार्ग-भ्रम हो जाना कोई कठिन नहीं। संकीर्ण पथ पर कुशल मार्गदृष्टा सद्गुरु का सदा सामीप्य रहना आवश्यक है, परन्तु यह सर्व-साधारण के लिए कठिन है, अतएव ऐसे लोगों के लिए भय है—भटककर कहाँ किस खाई-खन्दक में गिरें ठिकाना नहीं, इसलिए राजमार्ग का सहारा मनुष्य को नहीं छोड़ना चाहिए।

जीवन का समय स्वल्प है। इस थोड़े काल में जितना अधिक अपने अभीष्ट स्थान की ओर बढ़ सकें, बढ़ चलना चाहिए। साम्प्रायिकता की खींचातानी में पड़कर अपना पथ-भ्रष्ट कर देना और मनुष्य जीवन का अमूल्य समय जैसे-तैसे करके बिता देना, यह बुद्धिमानी नहीं है। साम्प्रदायिक परिच्छन्न उपासनाओं से

वास्तविक कल्याण भी नहीं हो सकता। यदि विष्णु की प्रतिमा में शैव अपने शिव और शाक्त अपनी देवी को नहीं देखते तो वे स्वयं अपने इष्ट की व्यापकता का खण्डन करते हैं। ऐसी परिच्छन्न भावना से साधक भी अपूर्ण ही रह जाता है। विभिन्न मत-मतान्तरों में आजकल जो द्वेष और विरोध-सा बढ़ गया है वह अपने इष्ट परमात्मा को व्यापक न मानने का ही परिणाम है।

सभी मतावलम्बी यदि अपने-अपने इष्ट देव को व्यापक देखने लग जायँ, तो कभी किसी से द्वेष न हो, क्योंकि तब दूसरों के इष्ट में भी अपने ही व्यापक इष्ट का दर्शन होगा, और इससे आपस में सद्भावनाओं का संचार होकर सहज ही विश्व-प्रेम की अखण्ड ज्योति प्रदीप्त हो उठेगी और वास्तविक स्थायी संगठन का सूत्रपात होकर समस्त विश्व स्थायी सुख-शान्ति का आगार बन जायेगा।



भगवान का भक्त काल पर भी शासन करता है

भगवान् सर्वत्र व्यापक हैं और सर्व-शक्तिमान हैं इसलिये उनका अनन्य भक्त भी हमेशा निश्चिन्त रहता है। काल से भी वह नहीं डरता, भगवान् का भक्त काल पर भी शासन करता है। माया के क्षेत्र में कौन-सी ऐसी शक्ति हो सकती है जो मायापति भगवान् के इशारे पर काम न करे। जिस-जिस पर भगवान् की कृपा हो जाती है ऐसे भक्त पर भगवान् की शक्ति, माया की भी कृपा रहती है। भक्त माया से अपना कोई सम्बन्ध नहीं चाहता और न माया की शक्तियों की इच्छा रखता है। वह तो अपने इष्ट भगवान् के ही चिन्तन में निमग्न है। माया की शक्तियाँ रिद्धि-सिद्धि के रूप में आकर सदा भक्त की इच्छा पूर्ण किया करती हैं और सदा उसकी सब प्रकार से रक्षा करती हैं।

प्रह्लाद का उदाहरण सामने हैं। अग्नि प्रह्लाद को जला नहीं सकी, जल उन्हें

इसका कारण यही है कि साधन की कमी है। तत्त्व का जानना सूक्ष्मातिसूक्ष्म विषय है। उसके लिए तो साधन भी सूक्ष्मातिसूक्ष्म होना चाहिए। तत्त्व तक पहुँचना ही अपने को पराकाष्ठा तक ले जाना है, उस पराकाष्ठा तक मनुष्य इसलिए नहीं पहुँच पाता कि साधन-हीन होने के कारण साध्य की उपासना ठीक प्रकार से नहीं होती।

वैसे तो जो वस्तु साध्य है (अर्थात् आत्मा) वह तो सिद्ध ही है, साधना और उपासना से उसका (आत्मा का) कुछ नहीं बनता, इनके (साधनों के द्वारा साधक) ही उसको समझने की योग्यता प्राप्त करता है, इसलिए इनकी आवश्यकता है।

जन्म-जन्मान्तरों के संस्कारों के कारण अन्तःकरण इतना मलिन हो गया है कि मनुष्य को एकाएक तत्त्व-बोध नहीं हो सकता। किसी महात्मा का विशेष अनुग्रह हो जाय तो दूसरी बात है, पर साधारणतया सोपान (सीढ़ी) से ही एक-एक कदम चढ़ते हुए क्रमशः आगे बढ़ना पड़ता है—सोपान है “साधन”।

अधिकारी भेद से साधन-क्रम में भी भेद होता है। इसे सद्गुरु लोग साधक की बुद्धि, अवस्था, देश कालादि का विचार करके निर्धारित करते हैं। किसी के लिए नौ भूमिकाएँ नवधा भक्ति की लाभदायक है और किसी के लिए नौ का पर्यवसान तीन में ही हो जाता है—“श्रवणं तु गुरो पूर्वं मननं तदनन्तरं, निध्यासनमित्याहुः पूर्ण बोधस्य कारणम्”—पहले तो श्रवण ही होना चाहिए। अपने संशय की निवृत्ति तो सद्गुरुओं के वाक्यों को श्रवण करने से ही होती है। फिर, जो सुना है उस पर मनन करना चाहिए और फिर निदिध्यासन करना चाहिए, अर्थात् मनन किये हुए को कार्य रूप में परिणत करने का अभ्यास करना चाहिए। इस प्रकार क्रमशः चल कर अन्त में तत्त्वमसि का विचार करना तत्त्व

राग-द्वेष दूर करके अपनी आय के अनुसार खर्च करो!

दर्शनार्थ एकत्रित हुए जन-समूह में से एक प्रतिष्ठित नागरिक ने श्रीशंकराचार्य महाराज से प्रश्न किया कि “महाराज सांसारिक भोगों की ओर मन बरबस प्रवृत्त होता है। प्रयत्न करते हुए भी मन का यह स्वभाव छूटता नहीं दिखाई देता, सांसारिक भोगों के लिये ही दुनिया भर के प्रपञ्च, छल, कपट, विश्वासघात, लड़ाई-झगड़े होते हैं। ऐसी स्थिति में हम लोगों के कल्याण का क्या उपाय है?”

जगद्गुरु जी महाराज ने उत्तर देते हुए कहा कि भगवान के नाम में बहुत शक्ति है पर यदि शक्ति का उद्घाटन हो जाय तो। यदि नाम में शक्ति का उद्घाटन नहीं किया गया तो शक्तिहीन नाम कुछ नहीं कर सकता।

अग्नि में सर्वस्व भस्म करने की शक्ति है, पर यदि अग्नि कमोजर है तो घृत के छींटे से भी बुझ जाती है, भगवान का नाम अति शक्तिसाली और काम धुक है, पर उसी के लिये है जिसने उसकी शक्ति का उद्घाटन कर लिया है।

जब तक संसार के मिथ्यात्व का संशय-विपर्ययरहित बोध नहीं होता तब तक भोगों से वैराग्य होना असम्भव है, भगवान की निष्काम उपासना करो और विचार द्वारा राग-द्वेष को दूर करते चलो, तुम्हारी अविचल श्रद्धा देखकर भगवान स्वयमेव कृपा करेंगे, उनकी कृपा से तुम्हारा मोह जनित अज्ञान दूर हो कर भगवान में दृढ़ अनुराग उत्पन्न होगा, परन्तु जब तक ऐसा नहीं होता और मन भोगों के लिये बेचैन रहता है तब तक गृहस्थ-धर्म का पालन करते हुए विहित भोगों को भोगो।

यदि स्त्री में सुख मानते हो तो अपनी स्त्री में ही संतुष्ट रहो दूसरी ओर दृष्टि न दौड़ाओ। गृहस्थी में धन की आवश्यकता है तो सदाचार पूर्वक धन का उपार्जन करो, अपना खान-पान पहिरान अपनी आय के अनुकूल रखो तो कभी चिन्तित

नहीं होना पड़ेगा, किसी को पीड़ा न देते हुए सात्विक परिश्रम द्वारा प्राप्त किये हुए धन का उचित उपयोग करो। इससे बुद्धि शुद्ध होगी और मन शान्त होगा।”

अन्त में महाराज श्री ने कहा सदाचार का पालन करते हुए जितना समय मिल सज्जनों और महात्माओं का सत्संग करो, सदाचारी व्यक्ति ही दूसरों का भी कल्याण कर सकता है, ऐसा करने से लोक-परलोक दोनों सुधरेंगे।



भगवान परम दयालु हैं

वह भक्तों की उपेक्षा कभी नहीं करते

आजकल संसार दुःखी है कोई भी वर्ग ऐसा नहीं है जो दुःखी न हो, इस दुःख की निवृत्ति यदि चाहते हो तो परमात्मा की शरण लो।

अग्नि सर्वत्र व्यापक है, काष्ठ में भी है जल में भी है, हम में तुम में सब जगह है। पर यह समान रूप से है। घर्षण किये जाने पर प्रकट हो सकती है। समान रूप से जब तक अग्नि व्याप्य है तब तक उससे कोई काम नहीं लिया जा सकता, व्यापक अग्नि हमारे किसी काम की नहीं। जैसे फर्नीचर में अग्नि है तो पर उसको जला नहीं सकती, जब तक उसको प्रत्यक्ष प्रकट न कर लिया जाय। इसी तरह परमात्मा भी सर्वत्र परिपूर्ण है पर व्यापक ब्रह्म हमारे किसी काम का नहीं जब तक उपासना करके उसे एक देश में न प्रकट कर लिया जाय। उपासना के द्वारा ही भगवान् प्रकट होते हैं।

काष्ठ को घर्षण करते रहो तो अग्नि अवश्य प्रकट होगी पर यह नहीं कहा जा सकता कि कितनी देर में प्रकट होगी। जब तक अग्नि प्रकट नहीं हो जाती तब तक लगातार घर्षण करने की आवश्यकता है। लगातार उपासना में तत्पर रहो, प्रयत्न करते रहो तो परमात्मा का अनुभव अवश्य होगा, इससे सन्देह नहीं है। परन्तु निरन्तर तत्पर रहने की आवश्यकता है।

(10)

भगवान् ने गीता में कहा है—

श्रद्धावान लभते ज्ञानं तत्पर संयतेन्द्रियः।

श्रद्धावान को ही ज्ञान होता है पर ‘तत्पर संयतेन्द्रिय’ निरन्तर उपासना में तत्पर रहे और जितेन्द्रिय रहे। उपासना में कुछ भी शिथिलता आई तो साक्षात्कार में विलम्ब हो सकता है।

भगवान का सहारा ले लेने से समस्त पाप नष्ट हो जाते हैं। भगवान अपने भक्तों की सदैव रक्षा करते हैं। प्रहलाद को उसके पिता ने कितना कष्ट दिया। जल में डुबाया, अग्नि में जलाया, जहाँ तक उससे हो सका प्रहलाद को कष्ट पहुँचाया, परन्तु भगवान् ने सब जगह प्रहलाद की रक्षा की, प्रहलाद को जरा भी कष्ट नहीं होने दिया।

आप लोग सब प्रहलाद ही हो, प्रहलाद कहीं इंग्लैण्ड, फ्रांस से नहीं आये थे। हमारे भारत के ही बालक थे, इन्हीं माताओं के गर्भ से उत्पन्न हुए थे। आप लोगों को प्रहलाद बनना चाहिये। भगवान भक्तों की उपेक्षा कभी नहीं कर सकते, जगत के कल्याण के लिये उनको प्रकट होना पड़ता है और अपने भक्तों को लिये निराकार से साकार होना पड़ता है।



तत्व-प्राप्ति में आहार-शुद्धि

एक दिन एक विरक्त महात्मा ने आकर पूछा—

‘भगवन्! बहुत कुछ प्रयत्न करने पर भी तत्व की प्राप्ति न होने का क्या कारण है?’ समाधान में अनन्त श्री विभूषित जगद्गुरु भगवान् शंकराचार्य ब्रह्मलीन स्वामी ब्रह्मानन्द सरस्वती जी महाराज ने उपदेश देते हुए कहा कि—

(11)

तो जीवन सफल हो जावे।

गीता में भगवान ने स्वयं अर्जुन से कहा है—

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम् ।

यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः ॥

(गीता-अ.-8 श्लोक 5)

जो पुरुष अन्तकाल में मेरा ही स्मरण करता हुआ शरीर त्याग करता है वह मेरे ही स्वरूप को प्राप्त होता है। इसमें संशय नहीं है।

आदि की बिगड़ी तो बन भी जाती है पर अंत की बिगड़ी नहीं बनती। ‘अन्त भला सो भला’ यह प्रचलित लोकोक्ति है। बड़े भाग से यह मानुष तन मिलता है ऐसे कर्म करो कि पुनः जड़ योनियों में न जाना पड़े। ऐसा अभ्यास बढ़ाओ कि भगवान स्मरण अन्तःकरण में सतत होता ही रहे।

नाम की महिमा अकथनीय है। नाम को तो नामी से भी बड़ा मानते हैं। तुलसीदासजी ने रामचरितमानस के बालकाण्ड के आदि में ही नाम की महिमा वर्णन की है।

नाम सप्रेम जपत अनयासा । भगत होहिं मुद मंगल वासा ॥

राम एक तापस हियतारी । नाम कोटि रवल कुमति सुधारी ॥

ध्रुवँ सगलानि जपेउ हरिनाऊँ । पायउ अचल अनूपम ठाऊँ ॥

सुमिरि पवनसुत पावन नामू । अपने वस करि राखे रामू ॥

अपतु अजामिलु गन गनिकाऊ । भये मुकुत हरिनाम प्रभाऊ ॥

कहाँ कहाँ लगी नाम बड़ाई । राम न सकहिं नाम गुन गाई ॥

कोई एक गृहस्थ महात्मा थे। उनकी पत्नी भी बड़ी सती साध्वी थी। एक बार एक कुष्टी उनके घर आया जिसका अंग गल रहा था। महात्मा तो घर पर नहीं थे। उनकी पत्नी से ही उसने अपनी वेदना निवेदन की। देवियाँ सरल स्वभाव की होती

(16)

साधन है। इस प्रकार मनुष्य श्रवण और मनन की प्रारम्भिक भूमिकाओं को पार करता हुआ तत्व-बोध का अधिकारी होता है।

आज कल जब श्रवण ही ठीक नहीं किया जात तो मनन कैसे ठीक हो सकता है और मनन ठीक न होने से निदिध्यासन किस पर किया जायेगा निदिध्यासन उपयुक्त और पर्याप्त न होने से तत्त्वमसि के विचार का (जो निदिध्यासन का अन्तिम पाद है) अधिकारी ही कैसे हो सकता है ? और बिना अधिकारी हुए तत्व प्राप्ति कैसे होगी ?

साधन के लिए सबसे पहिले **उपनिषदों में आहार शुद्धि लिखी है**, क्योंकि आहार से मन का अभेद सम्बन्ध है। देहाती कहावत भी है—“जैसा खावै अन्न वैसा उपजै मन।” आजकल मुख्य रूप से आहार ही बिगड़ा हुआ है तो तत्व-दर्शन कैसे हो ? मनुष्य इतना स्वार्थी हो गया है कि किसी को भोजन भी करायेगा तो किसी वासना को लेकर ही। एक बार पंजाब में एक सन्यासी किसी के घर पर भिक्षा के लिए गये। स्त्री ने दो रोटी लाकर दीं, पर देने के पहले उसने अपने बीमार पुत्र पर से तीन बार उतार कर दीं। सन्यासी ने कहा—“माई ! ये भैंस द्वार पर बँधी है इसके ऊपर और फेर दे।”

कहने का तात्पर्य यह कि उस सन्यासी को कितना अशुद्ध आहार दिया गया। जब आहार ही ठीक नहीं तब साधना भी ठीक नहीं हो सकती, **साधना द्वारा जिस मन को शुद्ध करना है उसी को अशुद्ध आहार द्वारा और अशुद्ध बनाया जाय तो उसकी शुद्धि कैसे हो सकती है ?**

अन्न की शुद्धि केवल उसे धोने पोंछने से नहीं होती। चावल धो लेने से शुद्ध नहीं कहा जा सकता। देखना पड़ेगा **कि चावल किस साधन से आया है—यदि अर्जन (प्राप्ति) का प्रकार शास्त्रोक्त है तब तो चावल शुद्ध है और यदि**

(13)

चोरी, डाके, अवैध प्रकार से किया गया है तो वह सदा अशुद्ध रहेगा। उसके भोजन से अन्तःकरण और भी मनिल हो जायेगा। अतः शुद्धि अशुद्धि का विचार करते समय यह देखना पड़ता है कि वस्तु कहाँ से आई और किन उपायों द्वारा प्राप्त की गई। अन्न की शुद्धता के साथ साधक में शम, दम आदि साधन-सम्पत्ति, सद्गुरु की प्राप्ति और उनमें अटल श्रद्धा होने से तत्व-बोध कोई कठिन नहीं है, जिसे भी तत्व की प्राप्ति हुई है, इसी मार्ग से हुई है, यह समस्त साधन जिन्हें प्राप्त हैं उन्हें आज भी तत्व-प्राप्ति हो रही है।



अभ्यास में आतुरता नहीं चाहिए

गीता में भगवान कृष्ण ने अर्जुन से कहा कि मनुष्य अन्तकाल में जिस भी भाव का स्मरण करता हुआ शरीर को त्यागता है वह उसको ही प्राप्त होता है क्योंकि वह सदा उसी ही भाव का चिंतन करता है।

जिस भाव का सदा चिन्तन किया जाता है अन्तकाल में भी प्रायः उसी का स्मरण होता है।

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्त कलेवरम्।

तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभाववितः ॥

(गीता 8/6)

एक वेदपाठी ब्राह्मण पागल हो गया। उसे खाने-पीने स्नान शौच आदि की कोई चिन्ता नहीं थी परन्तु वेद का पाठ फिर भी किया करता था। वेद-पाठ का निरन्तर अभ्यास करते करते उसे ऐसी लगन हो गई थी कि जब बुद्धि भी साथ नहीं देती थी फिर भी अभ्यास के कारण उसके मुख से वेद का पाठ ही निकला करता था। ऐसी ही निष्ठा भगवान में होनी चाहिए।

(14)

अन्त समय में जब शरीर शिथिल होने लगता है मन स्थिर नहीं रहता और बुद्धि भी ठिकाने नहीं रहती तो भगवान का स्मरण अथवा कोई भी नवीन विचार उत्पन्न होना असंभव हो जाता है। उस समय वे ही भाव जागृत होते हैं जिनका मन पहले से अभ्यस्त रहता है। योगी लोग तो योगबल से बुद्धि को ठीक रखते हैं तथा योग साधन द्वारा शरीर त्याग करते हैं। परन्तु जो योगी नहीं है उनको पूर्व राग न होने से भगवान का स्मरण नहीं होता।

तुलसीदास जी ने कहा है—

जनम-जनम मुनि जतन कराहीं।

अन्त राम कहि आवत नाहीं ॥

भगवान के तो सहस्रों नाम हैं। अन्त समय में तो सहस्रों नाम का पाठ कठिन ही होगा। सब नाम तो नहीं जपे जा सकते। अतः भगवान के अनेक नामों में से अपनी श्रद्धा तथा रुचि अनुरूप कोई एक नाम चुन लो अथवा गुरु ने जिस नाम जप का आदेश किया हो उसी का निरन्तर स्मरण करो। सोते जागते हर समय उसी नाम का स्मरण करते करते इतना अनुराग उस नाम में उत्पन्न कर लो कि इच्छा से अथवा अनिच्छा से सदा उस नाम के स्मरण का स्वभाव पड़ जाय और बिना प्रयास ही स्वतः मन में उसका स्मरण होता रहे। बुद्धि भ्रष्ट होने पर भी वह नाम न भूले। मन का ऐसा स्वभाव बनाने के लिये स्वधर्मानुष्ठान करना चाहिये। स्वधर्मानुष्ठान से बुद्धि विमल होगी और विमल बुद्धि से ही नाम स्मरण में अनुराग उत्पन्न होगा। अभी से नाम स्मरण को यदि विशेषता न दी गई तो सांसारिक वासनायें ही अन्तकाल में प्रबल हो उठती हैं। सांसारिक वासनाओं से भगवत स्मरण का स्थान ऊँचा रखो जिससे भौतिक वासनायें प्रबल होकर नाम विस्मरण न कर दें। अन्तकाल का स्मरण अत्यंत आवश्यक है परन्तु बिना निरंतर अभ्यास के असम्भव भी है। यदि अन्तकाल में भगवान का स्मरण हो जावे और उन्हीं में मन का भाव स्थिति पा जावे

(15)

गृहस्थों से पुरस्कार सेवा आदि पाते हैं। गृहस्थों को आँख-मूँदकर भेष की पूजा नहीं करना चाहिये। बिना कुलशील मर्यादा का परिचय पाये तो प्रणाम भी न करना चाहिये। यह तो विवेकहीन आचरण है। भोजन वस्त्रादि दे देना तो कोई बात नहीं परन्तु बिना पूर्ण परिचय के सम्बन्ध स्थापित नहीं करना चाहिये। लक्षण युक्त गुरु ही मान्य और श्रद्धा का पात्र है।

प्रायः लोगों की धारणा है कि एक बार गुरु कर लिया अब और गुरु कैसे किया जावे ? इस सम्बन्ध में यही कहना है कि यदि वह गुरु साधन पथ में लगाने में समर्थ है तब और गुरु का प्रश्न ही पैदा नहीं होता परन्तु यह विवशता का भाव तो उन्हीं के हृदय में उत्पन्न होता है जिन्हें गुरु से संतोष नहीं होता और जो गुरु की असमर्थता का अनुभव करने लगते हैं। ऐसी दशा में यदि मार्ग बोध नहीं होता है तो और गुरु को भी पूजना ही चाहिये।

वशिष्ठ और विश्वामित्र दोनों भगवान रामजी के गुरु थे। दोनों अपने-अपने क्षेत्र में गुरु थे। दोनों में ही समान निष्ठा महाराज की थी। दोनों की समान सेवा करते थे। प्राचीन परम्परा तो यही थी कि जो विद्या अपने पास नहीं है उसकी प्राप्ति के लिये शिष्य को अन्य ऋषियों के पास भेज देते थे। सिफारिश भी कर देते रहे। ऐसा नहीं था कि अहीर की गोंठ की भाँति शिष्य अपने दायरे से बाहर न जाने पावे और यदि जावे तो पशु पालक की भाँति लाठी लेकर साथ रहे कि किसी के प्रभाव में न आने पावे नहीं तो अपनी सेवा पूजा में व्याघात की आशंका हो जावेगी।

पन्नालाल आई.सी.एस. ने आकर एक बार प्रश्न किया कि आँख-मूँदकर बैठने पर भी मन स्थिर नहीं होता। उत्तर में उनसे पूछा गया कि सांसारिक सफलता के लिये आपने न जाने कितनी पार्टियाँ आयोजित कीं कितने कुछ उपाय नहीं किये,

है दयार्द्र हो गई कहा कि तुम राम राम कहो व्याधि मुक्त हो जाओगे। उसने कहा— “राम नाम तो न जाने कितनी बार कहा है कुछ भी नहीं हुआ। कुछ और ही उपाय बताइये।” देवी ने कहा कि अबकी बार हमारे कहने से तीन बार राम नाम कहो। कुष्ठी ने तीन बार राम नाम उच्चारण किया तो कुष्ठ मुक्त होकर शरीर पूर्ववत् हो गया। तब तो वह बड़े आनन्द से चल दिया। मार्ग में जो कोई मिले उसी से सब कथा कहता जाय और महात्माजी के घर का परिचय देता जाय। संयोग से महात्माजी ने सोचा कि इस भाँति प्रचार करते-करते तो इतने लोगों को हमारे घर भेज देगा कि रहना कठिन हो जायेगा। वह तो पहिचानता था नहीं। तब वे बोले कि जिनके घर का परिचय दे रहे हो वह तो हम ही हैं। यह सब प्रसंग यदि आगे किसी से कहोगे तो पुनः कुष्ठी हो जाओगे। ऐसा कहकर उसे चुप किया और घर आकर पत्नी से उदासीन रहने लगे। उसने समझ लिया कि कोई भारी अपराध बन गया। प्रार्थना की अनुनय विनय से पूछा कि क्या भूल हो गई क्षमा प्रदान की जावे। तब महात्मा जी ने कहा कि तुमने तीन बार ‘राम’ नाम लेने क्यों कहा ? एक बार कहने में क्या विश्वास नहीं था ? एक ही बार कहना पर्याप्त था। दो बार का उच्चारण व्यर्थ ही तो गया। एक बार ही के उच्चारण से कल्याण हो जाता।

भट्टोजी प्रगाढ़ पंडित थे। पंडिताई का अहंकार रखते थे। भगवन्नाम जप में उन्हें पुनरोक्ति दोष जान पड़ता था। अंत समय में कोई नाम न जप सके। पंडिताई का अहंकार ही स्मरण आया। प्रेत योनि को प्राप्त हो गये। पंडिताई से कोई संसार से पार नहीं हो सकता। पंडिताई तो शास्त्र ज्ञान है। ब्रह्म ज्ञान तो है नहीं, हाँ ब्रह्म प्राप्ति का साधन मात्र है, शास्त्र का ज्ञान होने से शास्त्र में निष्ठा होती है, और तदनुकूल आचरण से अन्तःकरण शुद्ध होता है तब भगवत् नाम हृदय में स्थापित करे यही पंडिताई का उद्देश्य है।

स्थूल उदाहरण देखिये। सुन्दर हल बैल को लेकर किसान खेत को जाता है। जब जोतते-जोतते खेत की घास पूस सब समाप्त करके उसे खूब परिष्कृत कर लेता है तब उसमें बीज वपन करता है। तभी अच्छी उत्पत्ति होती है।

पंडिताई को तो हल बैल समझो। अन्तःकरण से वासनाओं का कूड़ा-करकट शास्त्र ज्ञान द्वारा नष्ट करके हृदय शुद्ध बना देना ही उसका लक्ष्य है। अन्तःकरण विशुद्ध हो जाने पर भगवान का नाम रूप बीज वपन करना चतुरता है। यदि बीजारोपण न किया गया तो जोताई का सब परिश्रम व्यर्थ ही चला गया जानना चाहिये। भगवान में निष्ठा रूप बीज ही अन्तःकरण में स्थापित करने से सद्गति होती है। जिस किसान के सुन्दर हल, बैल तथा परिष्कृत बीज घर में उपस्थित रहता है वही श्रेष्ठ माना जाता है।

गुरु को भी किसान ही समझ लो। किसान के हल बैल ही गुरु की पंडिताई है। बिना पांडित्य के अन्तःकरण विशुद्ध नहीं बन सकता। ब्रह्म निष्ठा ही किसान का बीज है। गुरु अपने शास्त्र ज्ञान के बल से, शास्त्रों उपदेशों से अन्तःकरण शुद्ध करेगा। तब शिष्य के इस भाँति शुद्ध किये हुए हृदय में ब्रह्म से निष्ठा करा सकेगा।

कठिन रोगों में सद्वैद्य वमन विरेचन द्वारा शरीर को शुद्ध करके अनुपान सहित औषधि देकर रोग मुक्त करते हैं।

गुरु भी वैद्य है। नाना प्रकार की तर्क-वितर्क शंकाएँ, वासनायें जो मनुष्य के अन्तःकरण को दूषित किये रहती हैं उनका निवारण कर देना ही वमन विरेचन द्वारा शरीर शुद्ध करना है। भगवान में निष्ठा कराना ही औषधि है साधन पथ ही अनुपान मानना चाहिये। बिना अनुपान के औषधि व्यर्थ रहती है, गुरु प्रशस्त मार्ग पर बिना चले निष्ठा नहीं हो पाती और लक्ष्य-भ्रष्ट होना ही निरोग न होना है।

अतः श्रोत्रिय, ब्रह्मनिष्ठ गुरु ही श्रेष्ठ है और वही यथार्थ में गुरु कहे जाने योग्य

(18)

है। लौकिक गुरु तो अनेक होते हैं। कोई भी पथ प्रदर्शक गुरु माना जा सकता है। बालकों के तो प्रत्येक कक्षा में गुरु होते जाते हैं। गुरु का सम्बन्ध सम्प्रदाय से नहीं है ज्ञान से है। एक गुरु कनफूँका गुरु भी होते हैं जिनके लिये परम भक्त चरनदास ने स्वरचित भक्ति सागर में लिखा है—

**‘कनफूँका गुरु जगत के राम मिलावन और
गलियारिन गुरु फिरत हैं घर-घर कंठी देत’**

ऐसे भी लोग हैं जो वेद शास्त्र के विरुद्ध आचरण करते हुए भी अपनी मर्यादा बढ़ाये परमहंस बने रहते हैं। सम्पर्क में आने वालों को भी वैसा ही कराने की चेष्टा करते हैं। ‘परमहंस’ पद तो सबसे ऊँचा है जैसे कोई उच्चाधिकारी Retired हो। सन्यास तो चतुर्थ आश्रम ही है। सन्यासी का तो धर्म है कि अपने से नीचे तीनों वर्णों को अपने-अपने धर्म में प्रतिष्ठित रहने का आदेश करता है। तीनों वर्णों की मर्यादा सम्भाले और स्वयं भी शास्त्रोक्त साधन करता रहे।

एक Principal को तो विद्यालय के प्रत्येक शिक्षक तथा शिक्षित का ध्यान रखते हुए संस्था के शासन का भी भार उठाना होता है तथा स्वयं भी एक-न-एक कक्षा को पढ़ाना पड़ता है। Retired व्यक्ति को फिर किसी कक्षा से या शिक्षक के कार्य से कोई सम्बन्ध नहीं रह जाता। यही दशा परमहंस की है। उन्हें तो तेलधारावत् सतत भगवत नाम में ही लीन रहना चाहिये किसी अन्य के कर्म कुकर्म की चिन्ता का अवसर ही उन्हें कहाँ? परन्तु सन्यासी को तो लोक संग्रहार्थ, अपने आश्रम धर्म का पालन करते हुए अन्य आश्रमों का भी कल्याण करना होता है। जो आश्रमातीत हो उसे पहिले वासनातीत भी हो जाना चाहिये। मर्यादा यही है कि अपने तथा पात्र के अधिकारानुसार दीक्षा दी जावे।

वर्णाश्रम धर्म के अनुयायी साधु बहुत नहीं हैं, साधु वेश-भूषा के कारण ही

(19)

‘वेद अपौरुषेय हैं’ इस सिद्धान्त को मानने वाले तो बहुत लोग हैं जो हृदय से इस सिद्धान्त की सत्यता में, विश्वास करते हैं परन्तु ‘वेद कैसे अपौरुषेय हैं’ यह प्रतिपादन कर सकना, सिद्ध कर सकना कठिन है। वेद का तत्व तो गुरु द्वारा ही जाना जा सकता है। जो गुरु मुख से वेद के तत्व को हृदयंगम कर सके हैं वे ही उसके रहस्य को समझते हैं और उनमें ही ‘वेद की अपौरुषेयता’ सिद्ध कर सकने की क्षमता होता है।

उदाहरण के लिये यही ले लीजिये कि वेद के मंत्रों द्वारा पूजन कराने वाले आचार्य तो अनेक मिलेंगे जो यजमान को कहेंगे कि हम अमुक मंत्र पढ़ते हैं तुम अमुक कार्य करो। जैसे धूप देने का मंत्र है, नैवेद्य अर्पण करने का मंत्र है। पूजन के भिन्न-भिन्न मंत्र हैं। अधिकतर कर्मकाण्ड कराने वाले आचार्य यह तो बता सकेंगे कि अमुक मंत्र से अर्घ्य देना चाहिये, अमुक मंत्र से धूप, दीप, गंधि, नैवेद्य आदि समर्पित करनी चाहिये, परन्तु यह नहीं बता सकते कि अमुक कार्य विशेष के लिये अमुक मंत्र ही क्यों है ? यह तभी सम्भव है जब गुरु वाणी द्वारा उन विशेष मंत्रों के अर्थ तथा उनके रहस्य का ज्ञान प्राप्त हो जाये।

वेद का सम्पर्क न रह जाने से यजमान तो अब आचार्य वाक्य को ही प्रमाण मानने लगे हैं। बस इसलिए कि आचार्य कहते हैं इसे करना चाहिये इतना ही ज्ञान रह गया है। और तो और अज्ञान यहाँ तक बढ़ गया है कि संकल्प आदि जो यजमान के स्वयं करने तथा बोलने की वस्तु हैं आचार्य द्वारा ही उच्चारण कर दिये जाते हैं यानी संकल्प भी यजमान की ओर से आचार्य ही कर ले और कर्मकांड भी स्वयं ही कर ले। यजमान केवल आचार्य की चेष्टा मात्र की नकल करता है। यही सिद्धान्त के तत्व से अपरिचित होने का प्रमाण है।

प्रलय की दशा में जब संसार सुप्त अवस्था को प्राप्त हो जाता है तब जितने भी

(24)

परन्तु मन स्थिर होने के प्रकार को सीखने की क्या चेष्टा की है ?

सत्संग प्रथम सीढ़ी है। पहिले सत्संग करो तब विहिताविहित, कर्तव्याकर्तव्य का बोध होगा। अभ्यास और वैराग्य दो सिपाही मन को गिरफ्तार करने को हैं। केवल वैराग्य से कुछ नहीं होगा। वन में विचरने वाले मृग भी तो विरागी हैं परन्तु अभ्यासी नहीं हैं पशु हैं। अभ्यास और वैराग्य दोनों साथ-साथ चलते हैं। अभ्यास बढ़ने से वैराग्य स्वयं आ जाता है। अर्जुन ने भी यही प्रश्न भगवान कृष्ण से किया था। मन की चंचलता का उलाहना तो प्राचीनकाल से चला आता है।

चंचलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्।

तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्॥

(गीता 6-34)

भगवान ने उत्तर दिया था—

असंशयं महाबहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।

अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते॥

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति में मतिः।

वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः॥

(गीता अ. 6-34 से 36)

मन को स्थिर करने का प्रकार बताने वाले गुरु सस्ते नहीं हैं। और आजकल तो सभी चीजें मँहगी हैं। परन्तु सांस्कारिक प्रवृत्ति के लिये जितने उपाय किये जाते हैं उससे कम प्रयत्न में ही परमार्थ मार्ग सुगम हो सकता है। मुख से कहते हैं परन्तु वास्तविक प्रयास कम करते हैं। स्वयं जब तक अग्रसर न होंगे मार्ग जानकर भी इष्ट सिद्धि नहीं होगी। आँखें मूँदकर ही चाहने लगते हो कि समाधि लग जावे। अभ्यास में आतुरता नहीं चाहिये।

(21)

निरन्तर अभ्यास करने से नर से नारायण हो जाना संभव है।

सद्गुरु का आश्रय लेकर गुरु आज्ञा का पालन करते हुए अभ्यास बढ़ाओ इसी से वैराग्य उदय होगा, मन स्थिर होगा तथा अंत में कल्याण होगा।



वेद तो अपौरुषेय हैं ही।

शास्त्र में संशोधन हो सकता है परिवर्तन नहीं। मनु आदि महर्षियों के पश्चात् पाराशर ने कलिकाल का ध्यान करके बहुत संशोधन कर दिया है। अब और आवश्यकता नहीं है। संशोधन के अधिकारी केवल आस्तिक धर्माचार्य हैं। जिन्होंने शास्त्र को भलीभाँति देखा है। सो भी अकेले नहीं। ऐसे धर्मवेत्ता महात्माओं का समुदाय आस्तिक वर्ग के साथ मिलकर संशोधन करने में समर्थ हो सकता है। किन्तु नास्तिक शास्त्र ज्ञान शून्य जिन्होंने कभी यही नहीं जाना कि शास्त्र है क्या, कोई हस्तक्षेप करने के अधिकारी नहीं हो सकते। ये लोग तो शास्त्र में परिवर्तन चाहते हैं संशोधन नहीं। सो भी अपनी वासनानुकूल त्याग के दो प्रकार हैं—

1. प्रथम श्रेणी का श्रेष्ठ 2. द्वितीय श्रेणी का मध्यम।

प्रथम श्रेणी का त्याग तो वह है जिसमें पदार्थ विशेष की ओर चित्त की वृत्ति का आकर्षण ही न हो। गीता में भगवान ने कहा है—

सम लोष्ठाष्म काञ्चन।

मिट्टी के ढेले, पत्थर तथा कंचन के ढेर में वृत्ति जाये ही नहीं। तीनों पदार्थों को देखते हुये भी उनकी भिन्न-भिन्न स्थिति का मान ही चित्त को न हो यथा शुकदेव जी की कथा, जिनको दिगम्बर रूप में आता देखकर भी देव कन्याओं ने जल क्रीडा स्थगित नहीं की। परन्तु उनके पिता वयोवृद्ध व्यासजी को आता देखकर, लज्जा से क्रीडा त्यागकर, अपने-अपने अंग ढँक लिये। शुकदेवजी को यह भान ही नहीं

(22)

होता था कि कोई स्त्री है या पुरुष और व्यासजी को स्त्री-पुरुष के भेद का ज्ञान रहता था। व्यासजी के प्रश्न का उत्तर देते हुये देवकन्याओं ने ऐसा ही उत्तर उनको दिया था।

जब एक बार अन्तःकरण पर यह भाव जम गया कि मिट्टी है यह सोना है तब तो अन्तःकरण ने सोने के अस्तित्व को स्वीकार ही कर लिया जो उसका ग्रहण ही है। किसी के अस्तित्व को चित्त-वृत्ति द्वारा स्वीकार कर लेना भी उसका ग्रहण करना ही है। अस्तित्व को चित्त-वृत्ति द्वारा भी स्वीकार न करना ही प्रथम श्रेणी का त्याग है।

यदि एक बार किसी पदार्थ की भिन्न स्थिति को अन्तःकरण ने स्वीकार कर लिया और फिर उस पदार्थ को दूरस्थ कर दिया तो यह भी त्याग है परन्तु मध्यम श्रेणी का। क्योंकि यह त्याग ग्रहण के पश्चात् विवेक बुद्धि द्वारा किया गया है। इसके साथ यह भाव रहता है कि अमुक पदार्थ की स्थिति अपने समीप में कारण विशेष से अवाञ्छनीय है। शंका होती है कि पदार्थ विशेष कहीं हमारी मानसिक दुर्बलता का लाभ उठाकर हमारी वृत्ति को ही न बिगाड़ दे। इस पतन की आशंका से जो त्याग किया जाता है वह त्याग मध्यम श्रेणी का है। उदाहरणार्थ, यदि कोई शत्रु आकर गाली देने लग जावे और कितना ही तर्कपूर्ण उसका उत्तर दिया जावे तो शत्रु का सत्कार हो गया। उसकी स्थिति को स्वीकार कर लेना ही उसका सम्मान है। उपेक्षापूर्वक उसकी ओर ध्यान न देना ही उसका अपमान है त्याग में यही उपेक्षा वृत्ति चाहिये।

किसी सिद्धान्त को मान लेने और इसके प्रतिपादन करने में भेद है। सिद्धान्त को स्वीकार तो सहज ही किया जा सकता है किन्तु उस सिद्धान्त को पुष्ट कर सकना उतना सहज नहीं है।

(23)

में डालकर भून लीजिये और फिर कितना भी जल या भूमि का उपयोग कीजिये उसमें अंकुर निकलेगा नहीं यद्यपि उसके बाह्य आकार प्रकार में अन्तर नहीं होगा और वह खाने के काम में भी आ जावेगा। परन्तु उसकी जनन शक्ति नष्ट हो जाने से नवीन अंकुर नहीं उत्पन्न कर सकेगा।

जैसे अपनी आकृति देखने के लिये दर्पन की आवश्यकता होती है वैसे ही अपने को जानने के लिये भी बाह्य उपकरण की आवश्यकता पड़ती है।

दृष्टांत—दस मूर्ख एक नदी पार जाने लगे तो पार होकर सोचा चलो गिन तो लें सब साथी हैं कोई डूब तो नहीं गया। सब के सब दूसरों को तो गिन लेते पर अपने को कोई न गिनता। अतः लगे करने विलाप। फोड़ डाला सिर रोते पीटते। संयोगवश एक महात्मा उधर से आ निकले। उनको रोते पीटते विलाप करते देखकर कारण जानना चाहा। प्रसंग जान लेने पर महात्मा ने देखा कि दस तो हैं ही डूब कौन गया ? उन्होंने अपने सामने गिनवाया तो फिर भी पूर्ववत् अपने अपने को छोड़कर शेष नौ गिनकर रोने लगे। महात्मा ने समझ लिया कि मूर्ख मण्डली है। उन्हें आश्वासन दिया कि रोना धोना बंद करो हम तुम्हारा दसवाँ साथी मिला देंगे। पुनः गिनवाया और जब नौ तक संख्या मिल गई तो कहा कि ‘दशमस्त्वमसि’ दसवाँ तुम्हीं हो। यह जानकर उन मूर्खों को अत्यंत प्रसन्नता हुई। दसवाँ तो साथ में ही था पर ज्ञान न होने से दुःखी थे ज्ञान होने पर दुःख दूर होकर हर्ष को प्राप्त हो गये। इसी प्रकार नित्य प्राप्त वस्तु का ज्ञान न होने से, ज्ञान होने पर नवीन प्राप्ति के समान हर्ष होता है। परम पुरुष का सुखद इष्ट हृदय में ही है परन्तु जाना नहीं जाता। जानने के लिये योग्य विवेकी महात्मा की आवश्यकता पड़ती है। साथ का ज्ञान हो जाने पर उन मूर्खों का शोक निवारण तो हुआ परन्तु निषाद काल में जो सिर फोड़ लिये थे उनके घाव एकदम ठीक नहीं हो गये। उन क्षतों के अच्छे होने के लिये

जीव हैं वे सब भी ऐसे ही रहते हैं जैसे सोये हुए हों। जब पुनः सृष्टि आरंभ होती है तब जिन संस्कारों को लिये हुए जीव का अन्त हुआ था यानी सोने के पूर्व जो संस्कार रहते हैं सोकर उठने पर वही फिर जागृत हो जाते हैं, वे ही संस्कार लिये हुये जीव का पुनः जन्म होता है परन्तु उन संस्कारों के विकास के लिये समय अपेक्षित रहता है।

सृष्टि के आदि में जब मानस सृष्टि उत्पन्न हुई तो बीज से थी थोड़ी सी। मन की वृत्ति उस समय अन्तर्मुखी थी, भगवान की ओर रहने से प्रकृति की ओर आकृष्ट ही नहीं होती थी उस दशा में सृष्टि की वृद्धि का कार्य अवरुद्ध ही रह गया।

तब मैथुनी सृष्टि रची गई जिससे मन की वृत्ति अन्तर्मुखी न होकर बहिर्मुखी हो गई। यह बहिर्मुखी प्रवाह बढ़ते-बढ़ते इतना बढ़ा कि अब चेष्टा करने पर भी अन्तर्मुखी होना नहीं चाहता।

84 लक्ष योनि होने का प्रमाण तो है परन्तु जीवों की संख्या कितनी है इसका कोई प्रमाण नहीं है। जीव अनन्त है।

कभी लोग यह शंका खड़ी कर देते हैं कि जब ज्ञानी मोक्ष पा जाता है और भक्त भी मोक्ष पा जाता है तब होते-होते किसी दिन संसार शून्य हो जावेगा। सभी जीव एक-न-एक दिन मोक्ष को प्राप्त हो जावेंगे, तब क्या रहेगा ?

परन्तु जब जीव की संख्या ही नहीं है जीव अनन्तानन्त हैं तब अनन्त का अंत कैसे हो सकता है ? अतः उच्छेदन की शंका ही निर्मूल है। संसार जीवों के अभाव में उजड़ नहीं सकता, और हो भी जावे तो तुम्हें क्या चिन्ता है ?

मोक्ष में चैतन्य अंश का तो नाश होता नहीं केवल माया अंश का नाश होता है। शरीर के नाश होने पर चैतन्य अथवा साक्षी अथवा कूटस्थ का नाश होता है। आत्मा का नाश नहीं होता वह अनन्त है। उदाहरण के लिये घट को ही ले लीजिये। उस

जल पूर्ण घट में सूर्य बिम्ब के दर्शन होते हैं। जब तक घट जल पूर्ण रहेगा। बिम्ब भी दिखलाई देगा। परन्तु घट को फोड़ देने पर बिम्ब नष्ट हो जायेगा यानी अदृष्ट हो जायेगा परन्तु घटान्तर बिम्ब के नाश होने से सूर्य का नाश तो नहीं हो जाता। शरीर साक्ष्य है आत्मा साक्षी है। शरीर के नाश होने के साथ आत्मा का नाश नहीं होता। आत्मा अनन्त है उसका नाश नहीं हो सकता।

आप सब साक्षी हैं पर आप तो शरीर को साक्षी मानते हैं। देहाभिमानी आप हो गये हैं आत्माभिमानी नहीं रहे। देहाभिमान ही दुःख का कारण है अतः अन्त में दुःख है अनन्त में दुःख नहीं। देह नाशवान है, इसे सर्वस्व मानना ही दुःख का कारण है।

भगवान तो घट-घट में विद्यमान हैं। भगवान और जीव का तो घनिष्ठ सम्बन्ध है। शरीर को प्रकाशित करने वाला तो शरीरस्थ साक्षी ही है। साक्षी और ब्रह्म में कोई भेद नहीं है। परन्तु शरीर में ही अहंभाव रखने के कारण जीव का यानी साक्षी का ब्रह्म से सम्बन्ध होने में अवरोध है। साक्षी का परम पुरुषार्थ यही है कि ब्रह्म से सम्बन्ध प्राप्त कर ले। शुद्ध चैतन्य ब्रह्म से सम्बन्ध हो जाना ही मोक्ष है।

लिंग ध्वंसहो जाने पर साक्षी ब्रह्म में लीन हो जाता है। उदाहरण— घट के अन्दर भी आकाश है और बाहर भी अनन्त आकाश है। घट के नष्ट होने पर वह अन्दर का आकाश कहाँ जाता है ? कहीं नहीं जिस अनन्त आकाश का वह अंश मात्र है उसी महाकाश में वह लीन हो जाता है। घट की स्थिति के कारण महाकाश के एक अंश का नाम घटाकाश था। घट के नष्ट होते ही भेद मिट गया घटाकाश महाकाश में ही विलीन हो गया।

इसी भाँति, वास्तव में, जीव और ब्रह्म में कोई भेद नहीं है, उपाधि भेद के कारण भेद प्रतीत होता है, उपाधि के मिटने से भेद भी मिट जाता है। अन्तःकरण की मलिनता ही उपाधि है। जब अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है तब जीव का सम्बन्ध ब्रह्म

से हो जाता है और वह मोक्ष को प्राप्त हो जाता है।

“जन्म औषधि मन्त्र तपः समाधिस्थाः सिद्धियः”

(योदर्शन कैवल्य पाद 4/1)

जन्म, औषधि, मन्त्र, तप और समाधि से सिद्धि प्राप्त होती है। किसी को तो जन्म से ही सिद्धि प्राप्त होती है। यानी पूर्व जन्म के प्रबल संस्कारों का प्रकाश जन्म से ही प्रगट होने लगता है। ऐसे जीव जन्म से ही सिद्ध होते हैं। कोई तपस्या, मंत्र आदि द्वारा सिद्धि प्राप्त करते हैं। जन्मकाल और मरणकाल दोनों ही कष्टप्रद होते हैं परन्तु योगकला को जानने वालों को कष्ट नहीं होता।

कभी-कभी लोग यह शंका उत्पन्न करते हैं कि हम कैसे जानें कि कोई भक्त है अथवा ज्ञानी, जब व्यवहार में कोई भेद नहीं दिखता, भोजन, वसन, गृह, वैभव सभी समान रूप से रहते हुए परिचय कैसे हो ? इसका उचित उत्तर यही है कि बाह्य व्यवहार समान दिखाई देने पर भी एक बड़ा अन्तर रहता है और वह यह कि ज्ञानी या भक्त का व्यवहार अवैध नहीं रहता, उसका व्यवहार वेदशास्त्र विहित ही होगा उसके विरुद्ध नहीं।

उदाहरण एक स्त्री संतानवान है दूसरी बन्ध्या। दोनों के समान रूप से शरीर अवयव हैं। दोनों के भोजन-वसन भूख, प्यास आदि व्यापार समान ही हैं। परन्तु एक में सन्तान जनन की शक्ति है दूसरी में नहीं। जिस प्रकार बन्ध्या और पुत्रवती के बाह्य व्यवहार में कोई भेद नहीं दिखाई देता परन्तु जनन शक्ति के न होने का आन्तरिक भेद तो रहता ही है जो ऊपर से नहीं देखा जाता। इसी भाँति भक्त और ज्ञानी पुरुषों को बन्ध्या स्त्री के समान जानो। उनके संस्कार अन्तःकरण से दग्ध हो जाने से जन्मान्तर के अंकुर भी दग्ध हो जाते हैं। दग्ध बीज में अंकुर उत्पन्न नहीं होता। अग्नि संयोग से बीज की जनन शक्ति नष्ट हो जाती है और गेहूँ को कड़ाही

अनर्थ का सम्पादन मत करो

पशु-पक्षी मनुष्य आदि सभी प्राणी सुख प्राप्ति की कामना से ही अपने कार्य में प्रवृत्त होते हैं किन्तु मनुष्य में बुद्धि है, वह दूर तक विचार कर सकता है। मनुष्य को सोचना चाहिये कि कहीं ऐसा कार्य न हो जाय कि जिसके परिणाम में पाप का संग्रह हो और परलोक बिगड़े। वर्तमान में सुख मिले और भविष्य भी उज्ज्वल रहे ऐसे कार्यों को ही करना चाहिये। प्रत्यक्ष में अभी सुख मिला और भविष्य के लिये दुःख की सामग्री बढ़ी तो यह रोजगार घाटे का होगा। परधन और परस्त्री प्रत्यक्ष में सुख का साधन होते हुए भी संग्रह के योग्य नहीं हैं क्योंकि शास्त्र कहता है कि इससे पाप होता है और परलोक बिगड़ता है।

व्यवहार करो परन्तु ऐसे ढंग से कि परलोक भी उत्तम बने। अर्थ उपार्जन करो परन्तु इस प्रकार से कि वह अर्थ, परम अर्थ, परमार्थ का विरोधी न हो। अर्थ वही है जो परमार्थ की ओर ले जावे। जो परमार्थ में बाधक हो, जिससे पाप का संग्रह हो वह अर्थ नहीं अनर्थ है। कमाया हुआ धन तो यहीं रह जावेगा किन्तु उसके साथ कमाया हुआ पाप आगे साथ जायेगा और उसका फल अकेले ही भोगना पड़ेगा। इसलिये ऐसे ही कार्य करो जो सुख के साधन तो हों परन्तु निरय अर्थात् नरक के उत्पादक न हों।



समय की अपेक्षा होती है।

आप अपने को भूले हैं। सत्पुरुष से परिचय होने पर जब वह, वह ज्ञान करता है तब ज्ञान तो हो जाता है परन्तु पूर्व कर्मानुसार जो प्रारब्ध बन चुका है वह समयानुसार ही पूरा होता है। शरीर का भोग्य जब तक रहता है शरीर भी रहता है। प्रारब्ध का भोग करना ही पड़ता है।

कभी-कभी लोग शंका कर बैठते हैं कि महात्मा लोग तो जंगलों में ही रहा करते हैं वे नगरों में क्या आने लगे, उन्हें नगरों में क्या प्रयोजन। यानी जो नगरों में आवें वे महात्मा ही नहीं हैं।

प्राचीनकाल से ही महात्माओं का साइनबोर्ड तो धनिकों का रहा है। बड़े-बड़े वैभवशाली, सम्पत्तिवान जब किसी भाँति अभीष्ट सिद्ध न कर सकें तो इन्हीं लँगोटी वालों की शरण में आया किये। मुमुक्षुओं के लिये तो महात्माओं का दरबार सदा ही खुला है। पर प्रश्न तो विभुक्षुओं का है। ये विभुक्षु लोग जब लौकिक वासनावार्ता लेकर महात्माओं के पास पहुँचने लगे तब महात्माओं ने उनके सम्पर्क से अलग रहना ही उचित समझा और उनसे दूर जंगलों में चले गये। लोक वासना से प्रेरित लोगों से बचने के लिये ही ऐसा किया गया। क्योंकि अनेक वासनाओं से प्रेरित अंतःकरण की पूर्ति कहाँ तक की जा सकती है। यदि कृपाकर किसी की एक वासना की पूर्ति कर भी दी जावे तो तत्काल दूसरी, तीसरी, चौथी और इसी भाँति अनन्त वासनाओं को लिये फिरने वाले विभुक्षुओं को कहाँ तक सन्तुष्ट किया करें ?

अब लोकभावना यह हो गई है कि महात्माओं के पास कुछ है नहीं इससे निर्भीक होकर नगरवासियों को भी वनचर समझकर वे नगरों में आने लगे हैं। मुमुक्षु ही महात्माओं के सम्पर्क का पात्र है उसके लिये तो सदा ही द्वार खुला है।

व्यवहारिक प्रसंग की सफलता दे देना महात्माओं के लिये कठिन तो नहीं है पर महात्माओं को सांसारिक सिद्धियों में फँसना उचित नहीं है। उनको तो केवल एक वासना-भगवत प्राप्ति की इच्छा-की पूर्ति में सहायता देना है, वही दी जा सकती है।

आपका इष्ट ब्रह्म है। आप ही साक्षी हैं। इष्ट को अपने अन्तःकरण के मंदिर में खोजो। यदि अन्तःकरण शुद्ध न हुआ तो वह न भीतर ही मिलेगा न बाहर।

श्रवण-मनन-निदिध्यासन के ईंधन से वासना बीज को दग्ध कर दो। इष्ट को अपने ही अन्तःकरण में देखो। सद्गुरु तो एक विद्यालय के अध्यक्ष के समान है। उसका अधिकार सभी श्रेणियों पर रहता है। वह छोटे-से-छोटे और बड़े-से-बड़े क्लास का ध्यान रखता है। उसे तो सभी का हित अभीष्ट है परन्तु एक क्लास को पढ़ाने वाला शिक्षक तो एक भी क्लास का अधिकारी है। उसे तो सदा उसी क्लास मात्र की चिन्ता है। यदि एक ही क्लास का गौरव लिये बैठे रहोगे तो आगे कैसे बढ़ोगे-आगे बढ़ने की चेष्टा करो। जो जिसका गुरु है वह उसे माने। उसका सम्मान करे। हम तो भगवत प्राप्ति का मार्ग बताते हैं। वेद का ज्ञान तो लोगों को हो नहीं रहा है क्योंकि सम्पर्क नहीं है। चैतन्य से ही चैतन्यता आती है। जीव तो ईश्वर है ही। हो क्या नहीं सकता प्रयत्न करो। काष्ठ अग्नि के सम्पर्क से अग्नि हो जाता है। जीव भी ईश्वर को भजने से भगवत् स्वरूप हो जाता है।

एक वैष्णव महात्मा ने बताया अपने पास आने वालों को कि जीव का जीवत्व नष्ट नहीं होता। जैसे स्वर्ण को अग्नि में तपाने से अग्नि के गुण प्रकाशत्व दाहकत्व आदि तो उसमें आ जायेंगे, परन्तु अग्नि से वियोग होते ही स्वर्ण का अस्तित्व प्रकट हो जाता है। परन्तु यहाँ यह देखना है कि यह उदाहरण कैसे ठीक बैठता है, स्वर्ण का तो तप जाने पर भी अग्नि से वियोग हो जाता है, परन्तु भक्त का तो भगवान से

(30)

वियोग नहीं होता, इसके तो अनेकों प्रमाण हैं। श्रुति से तो यही प्रतिपादित होता है कि—

‘यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम’

(गीता 15/6)

रामायण में तुलसीदासजी ने कहा है—

जानत तुम्हहिं तुम्हहिं होई जाई।

फिर स्वर्णभस्म का अस्तित्व तो आयुर्वेद ने माना ही है। भस्म अग्नि के सम्पर्क से होती है। तपाते-तपाते जब अग्नि स्वरूप हो जाता है तभी एक जड़ी निचोड़ देने से भस्म बन जाता है। स्वर्णत्व नष्ट हो जाता है। इसी भाँति जब आराधना-उपासना द्वारा अन्तःकरण शुद्ध होकर भक्त भगवान के सम्पर्क में आता है तब सद्गुरु की सहायता से जीवत्व नष्ट होते देर नहीं लगती।

यदि भगवान भी सेवा करने पर अपने समान नहीं बना देते तो उनकी सेवा करना और एक राजा की सेवा करना समान ही है, जब तक सहायता का आश्वासन रहता है पृथक्ता रहती है, परन्तु जब यह कह दिया कि आप तो हमारे ही स्वरूप हैं फिर कोई भेद नहीं रह जाता, सालोक्य—सामीप्य सारूप्य भी मोक्ष के प्रकार हैं और उनके द्वारा भी कैवल्य में सीधा मोक्ष है। इसी को प्राप्त करने का प्रयास करने में मनुष्य जन्म की सार्थकता है।



लोक-परलोक दोनों बनाओ

वर्तमान में सुख मिले और भविष्य भी उज्ज्वल रहे ऐसे ही कार्य करो।

अर्थ उसे ही मानो जो परम अर्थ (परमार्थ) की ओर ले जाये।

(31)

करो और सदा परमात्मा का स्मरण रखो। शरीर से विहित कर्म करो और मन से परमात्मा का चिन्तन करो।

ऐसा करने से लोक-परलोक दोनों उज्ज्वल बनेगा।



तृष्णा के त्याग और ईश्वराधन से ही सुख संभव

जगत के पदार्थों से जब कोई निराशा आती है तभी परमात्मा को प्राप्त करने की इच्छा उत्पन्न होती है। राजा भृशहरि को अपनी स्त्री के दुश्चरित्र का पता लगने पर धक्का लगा। तुलसी और पिंगला के उदाहरण भी यही बात पुष्ट करते हैं कि जगत में सुख की आशा भंग होने पर लोग परमात्मा की ओर उन्मुख होते हैं। परन्तु फिर भी ऐसे कितने मूर्ख हैं जो बार-बार संसार की असारता का अनुभव करने के बाद भी आशा पिशाचिनी का त्याग नहीं करते।

निरन्तर सावधान होकर विचार करते रहने की आवश्यकता है। स्त्री, पुत्र, धन, परिवार, वैभव इनके अभाव में यदि दुःख मानते हो तो तुम भी इन्हें प्राप्त करने का प्रयत्न करो। जिनके पास यह सब वस्तुयें हैं उन्हें और भी अधिक क्लेश है। इसलिये तृष्णा को त्यागो। सुख तो तृष्णा का त्यागकर ईश्वर की आराधना करने से मिलेगा।

धर्म राष्ट्र का रक्षक है। धर्म की अवहेलना करना भारी भूल आहार शुद्धि पर सदा ध्यान दो।

परलोक के लिये अभी से कुछ प्रबन्ध कर चलो धर्म मर्यादा की रक्षा से ही सद्गति संभव है।



(36)

शास्त्र विरुद्ध पुरुषार्थ से पतन शास्त्रानुकूल आचरण से ही सद्गति

उच्छास्त्रितं शास्त्रित चेति पौरुषं द्विविधंमतम्।

तत्रोच्छात्र मनर्थाय परमर्थाय शास्त्रतम् ॥

अर्थात् पुरुषार्थ दो प्रकार का होता है—एक शास्त्र के अनुकूल और दूसरा शास्त्र के विपरीत। शास्त्र के विरुद्ध जो पुरुषार्थ किया जाता है उसका फल अनर्थ होता है और जो शास्त्र सम्मत पुरुषार्थ किया जाता है वह परमार्थ का देने वाला होता है। यही बात भगवान् कृष्ण ने गीता में कही है—

यः शास्त्र विधिमुत्सृज्य

वर्तते कामकारतः।

न स सिद्धिमवाप्नोति

न सुखं न परांगतिम् ॥

(अ. 16 श्लोक 23)

जो शास्त्र विधान का उल्लंघन करके अपनी स्वतंत्र इच्छा के अनुसार व्यवहार करते हैं उनको न कार्यों में सिद्धि होती है, न सुख मिलता है न परमगति ही मिलती है। इसलिये—

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते

कार्याकार्येव्यवस्थितौ।

ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं

कर्मकर्तुमिहार्हसि ॥

(गीता अ. 16 श्लोक 24)

कर्तव्याकर्तव्य के संबंध में शास्त्र को ही अन्तिम प्रमाण मानना चाहिये, और

(33)

शास्त्र के आधार पर कर्तव्य और अकर्तव्य का निर्णय करके शास्त्रानुसारी कार्य ही करना चाहिये। शास्त्र त्रिकालज्ञ महर्षियों के वेदानुसार अनुभव हैं जो सबके लिये सब समय में उपयोगी हैं। इसलिये अपने कल्याण की दृष्टि से शास्त्रनुसार पुरुषार्थ ही करना चाहिये।



शास्त्र की आज्ञानुसार कर्म करने से ही लोक परलोक में सुख शान्ति सम्भव

जो सुख का साधन हो और निरय का उत्पादक न हो अर्थात् जिसके द्वारा सुख की प्राप्ति हो और अधोगति न हो वही धर्म है। धर्म करने से पुण्य होता है और अधर्म करने से पाप होता है। पुण्य का फल सुख और पाप का फल दुःख होता है। किस कर्म से पुण्य और किस कर्म से पाप होता है इसका निर्णय शास्त्र करता है। शास्त्र त्रिकालज्ञ महर्षियों के वेदानुसारी अनुभव हैं। शास्त्रानुसार कर्म करने से ही लोक परलोक में सुख शान्ति की प्राप्ति संभव है। भगवान कृष्ण ने गीता में स्पष्ट कहा है—

यः शास्त्र विधिमुत्सज्य,
वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति,
न सुखं न परां गतिम्॥

(गीता अ. 16 श्लोक 23)

अर्थात् जो शास्त्र विधान का उल्लंघन करके अपनी इच्छा के अनुसार बर्तता है उसको न सुख होता है न शान्ति मिलती है न परम गति होती है। यदि कोई परलोक और परमगति को भी न माने तो भी लोक में सुख शान्ति के अनुभव के लिये शास्त्राज्ञापालन आवश्यक है। शास्त्र में कर्म समुदायक को पाँच भागों में बाँटा

(34)

गया है—नित्य कर्म, नैमित्तिक कर्म, प्रायाश्चित्त कर्म और निषिद्ध कर्म। आगे श्री जगद्गुरु ने पाँचों कर्मों का विस्तृत विवेचन किया और बताया कि शास्त्रानुसार कर्म करना कठिन नहीं है। बिना जाने हुए ही लोग कठिन मान लेते हैं।

ऐसा करो कि अन्त न बिगड़े

अपने उपदेश का उपसंहार करते हुए श्रीचरण ने कहा कि शास्त्र दृष्टि से अपने अधिकारानुसार कर्म करो और भगवान का स्मरण करते चलो। भवसागर से पार होने के लिये मनुष्य शरीर रूपी इतनी सुन्दर नौका मिल गई है तो ऐसा न करो कि वासना के भंवर में पड़कर नौका डूब जाय। अशुभ वासनाओं को शुभ वासनाओं से दबाओं और शुभ से किये हुए विहित कर्मों के फल को भगवदर्पण कर दो तभी आवागमन के चक्कर से छूट सकोगे। स्मरण रखो कि आदि की बिगड़ी तो बन जाती है परन्तु अन्त की नहीं बनती इसलिये अभी से ऐसा प्रयत्न करना चाहिये कि अन्त न बिगड़ने पाये। सिद्धान्त है कि—

यं वापि स्मरन्भावं,
त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा,
तद्भाव भावितः॥

(गीता अ. 8 श्लोक 6)

अन्त में प्राणी जिस भावना से शरीर त्याग करता है उसी के अनुकूल अगला जन्म होता है। अन्त में उत्तम भावना से शरीर त्याग हो और प्राणी की सद्गति हो इसलिये भगवान ने कहा है—

तस्मात् सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युद्ध च।

यहाँ युद्ध का अर्थ है स्वधर्मानुष्ठान करना। अपने-अपने अधिकारानुसार कार्य

(35)

अपने अधिकार के अनुसार भगवान की खोज करनी चाहिये

सबके लिये सीढ़ी बनी हुई है। घरों में लोग सीढ़ी बनाते हैं तो अलग-अलग जीना बनाते हैं। जो जिस जीने से जाने का अधिकारी होता है वह उसी जीने से ऊपर जाता है। ऊपर जाने के सब के लिये सीढ़ी होती है पर एक सीढ़ी सबके लिये नहीं होती।

किसी पर प्रतिबंध नहीं है। सभी भगवान के पास पहुँच सकते हैं। परन्तु मार्ग भिन्न-भिन्न हैं। कोई भी एक मार्ग सर्वोच्च नहीं है। जो जिस मार्ग का अधिकारी है उसके लिये वही सर्वोच्च है। इसीलिये भगवान ने कहा है—

स्वधर्मो निधनं प्रेयः परधर्मो भयावहः।

अधिकार और अनाधिकार या पाप-पुण्य का निर्णय वेद शास्त्र से होता है। जिसके हम अधिकारी नहीं हैं वह कार्य पाप है और अधिकारानुसार कार्य ही पुण्य है। किसका क्या अधिकार है, किसके लिये क्या पुण्य और क्या पाप है ? इसका निर्णय वेद शास्त्र से होता है। कोई व्यक्ति या कमेटी यह निर्णय नहीं कर सकती क्योंकि मनुष्य का निर्णय उसकी बुद्धि के अनुसार ही होगा। यदि बुद्धि रजोगुणी तमोगुणी हुई तो अविहित को भी विहित मान लेगी। यदि किसी की बुद्धि सत्वप्रधान हो तब भी वह अल्पज्ञ ही तो है। कर्म की गति इतनी गहन है कि उसके संबंध में निश्चयात्मक कुछ भी कहना मानवीय अल्पज्ञ बुद्धि के परे हैं। इसलिये कर्तव्याकर्तव्य के निर्णय के लिए शास्त्र ही अन्तिम प्रमाण माना जाता है।

शास्त्र जो हमारे अधिकार के अनुसार कर्तव्य निर्देश करता है वही हमारा धर्म है। धर्म के प्रधान रूप से दो भेद हैं—सामान्य धर्म और विशेष धर्म। सामान्य धर्म में मनुष्य मात्र का अधिकार है। किसी भी देश या जाति का कोई भी

विश्व में शान्ति स्थापनार्थ भौतिकवाद का खण्डन आवश्यक बुद्धिवाद से नहीं शास्त्रवाद से ही कल्याण होगा

आज अध्यात्मवाद को अतिक्रमण कर भौतिकवाद प्रबल हो रहा है उसी प्रकार बुद्धिवाद से आगे शास्त्रवाद गौण हो रहा है। भौतिकवाद में सुख की विडम्बना मात्र है इसलिये भारत में भौतिकवाद को कभी भी सुख शान्ति का आधार नहीं माना है। यहाँ सदैव अध्यात्मवाद की प्रधानता रही है। अध्यात्मवाद का भारत ने पूर्ण विश्लेषण किया और अपने अनुभव में इसी को शाश्वत सुख और शान्ति का एकमेव मार्ग पाया।

पूर्ण परब्रह्म परमात्मा ही अपार आनन्द का अनादि स्रोत हैं। पर इस परोक्ष ज्ञान (मात्र) से ही सुख की प्राप्ति नहीं हो सकती। काष्ठ में अग्नि व्याप्त है इस परोक्ष ज्ञान को प्राप्त कर लेने भर से कोई काष्ठगत अग्नि से अपनी शीत निवृत्ति नहीं कर सकता। घर्षण द्वारा अग्नि को प्रकट करके उससे अपना काम चलाया जा सकता है। इसी प्रकार परमात्मा के परोक्ष ज्ञान मात्र से दुःख की निवृत्ति नहीं हो सकती। केवल बीजक के अध्ययन से कोई धनी नहीं हो सकता। जब तक बीजक के निर्देश के अनुसार खनन करके निधि प्राप्त न की जाय। वेद और शास्त्र परमात्मा की प्राप्ति के लिये बीजक के समान हैं और खनन है वेद शास्त्र की आज्ञानुसार जप, ध्यान इत्यादि के द्वारा परमात्मा को प्रत्यक्ष करना। ज्ञान विज्ञान के समन्वय से ही सुख शान्ति की प्राप्ति होगी। शास्त्रीय सिद्धान्तों को अपने आचरण में लाये बिना केवल वायक ज्ञान तो तोत-रटन्त के समान है। इसीलिये भगवान् ने गीता में कहा है—

यः शास्त्रविधिं मुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।

न स सिद्धिभवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥

(अ. 16 श्लोक 23)

जो परमगति को नहीं मानते वे भी तो सिद्धि और सुख चाहते ही हैं इसलिये भौतिक जीवन की सफलता के लिये भी शास्त्राज्ञा पालन करना परमावश्यक है। यज्ञानुष्ठानादि कर्म करने से इहलौकिक वैभव की प्राप्ति होती है।

भारत में कभी एक व्यक्ति का शासन नहीं रहा। यहाँ तो वेद शास्त्रों का शासन रहा है। इसलिये भारत के प्राचीन राजतन्त्र की तुलना आज के डिक्टेटर-शिप से नहीं की जा सकती। शास्त्र तो त्रिकालज्ञ महर्षियों के बनाये हुए हैं। वे भूत वर्तमान और भविष्य तीनों कालों के ज्ञाता थे। इसलिये शास्त्रों की प्रमाणिकता स्वीकार की जाती है।

आजकल लोग बुद्धिवाद की बहुत चर्चा करते हैं पर बुद्धि पर आश्रित होकर सदैव कल्याणप्रद कार्य करते रहने की आशा दुराशा मात्र है। बुद्धि तो व्यभिचारिणी है। यह सत, रज, तम तीनों गुणों से प्रभावित होती रहती है। यदि अन्तःकरण में रजोगुण का आविर्भाव होगा तो लोभ की प्रवृत्ति बढ़ेगी और यदि तमोगुण का उद्रेक होगा तो तामसी विचार धारा प्रसृत होगी।

यदि प्रातःकाल से सायंकाल तक के अपने विचारों का हम मनन करें तो प्रगट हो जायेगा कि बुद्धि कभी किसी बात को उचित सिद्ध करती है कभी उससे बिल्कुल विरोधी बात को ठीक बताती है। अतः शास्त्र को ही प्रमाण मानकर चलना पड़ेगा तभी कल्याण होगा।

भौतिकवाद तो सुख शान्ति का क्षेत्र हो ही नहीं सकता। जो देश भौतिकवाद में बहुत आगे बढ़े हुए हैं उनमें अशान्ति और कलह के नित्य नये नये निमित्त उपास्थित होते ही रहते हैं। विषयों से जो सुख की प्राप्ति होती है वह तो सुख का आभास मात्र है। उसका केवल इतना ही प्रयोजन मात्र है कि हम जान लें कि सुख का अस्तित्व है। जब सुख की छाया के सान्निध्य से इतने आनन्द का अनुभव होता

है तो परमानन्द की प्राप्ति में तो आनन्द का अनुभव ही नहीं लगाया जा सकता।

संसार में जिन-जिन वस्तुओं की प्राप्ति से हमें सुख का अनुभव होता है वह क्षणिक ही होता है पर उसके वियोग में हमें अपार दुःख होता है। संसार के सभी पदार्थों का वियोग तो निश्चित ही है। अतः प्राप्ति में क्षणिक सुख और वियोग में चिर दुःख इसके सिवाय भौतिकवाद में रक्खा क्या है ? दुनिया के अन्य देश भौतिकवाद के पीछे पागल बनें तो बनें पर भारत सदैव से अध्यात्म का आनन्द लेता रहा है। स्वतंत्रता के पश्चात् हमें अपने इस स्वत्व को विसर्जित नहीं कर देना है।



धर्मानुकूल आचरण नास्तिकों के लिये भी सुख शान्तिप्रद

प्रत्येक व्यक्ति का ऐसा आचरण होना आवश्यक है जिससे पारस्परिक प्रेम की वृद्धि होकर शान्ति और सुव्यवस्था की स्थापना हो सके। ईश्वर और परलोक को कोई माने या ना माने तो भी यदि वह इतना घोर स्वार्थी नहीं है कि अपने ही तक सीमित हो तो देश और समाज की दृष्टि से प्रत्येक व्यक्ति का ऐसा आचरण होना आवश्यक है जिससे पारस्परिक प्रेम की वृद्धि होकर शान्ति और सुव्यवस्था की स्थापना हो सके। यह तभी सम्भव होगा जब लोग आदर्शों का पालन करें। धर्म हमारे सम्मुख उन्हीं आदर्शों का उपस्थित करता है। दश लक्षण धर्म के ऐसे हैं जो संसार के प्रत्येक मनुष्य के लिये लाभदायक हैं चाहे वह किसी भी देश का और किसी भी समाज का हो। ये तो नास्तिक समाज के लिये भी सुख शान्तिप्रद हैं।



**वाक्यज्ञान अत्यंत निपुण
भव पार न पावै कोई ।**

शास्त्र पढ़ना चाहिये तत्व ज्ञान के लक्षण से । वृक्ष लगाया जाता है फल के लिये—अंग्रेजों के समय से छाया के लिये ही बहुत से पेड़ लगाये जाने लगे हैं परन्तु भारत की यही प्रणाली थी कि फल के लिये पेड़ लगाते थे । इसी प्रकार शास्त्राध्ययन का मुख्य फल है तत्वबोध और गौड़फल है भाषण कुशलता, वादविवाद में दूसरे को परास्त करना, दूसरों का मनोरंजन आदि । जो तत्वबोध के लिये शास्त्राध्ययन किया जाता है और उसके लिये विधान हैं कि—

**शास्त्रमभ्यस्य मेधावी, ज्ञानविज्ञान तत्परः
पलालमिव धान्यार्थी त्यजेद्ग्रन्थमशेषतः ॥**

बुद्धिमान पुरुष शास्त्राध्ययन करके भगवान का परोक्ष ज्ञान प्राप्त करे और उसका प्रत्यक्षानुभव करके स्वरूपानुसंधान करता हुआ इस प्रकार शास्त्र ग्रंथों का पूर्णरूप से परित्याग कर दे जैसे धान की भूसी को चावल निकाल देने के बाद त्याग दिया जाता है ।

देहवासना—इस समय शरीर पोषण पर ही दृष्टि रहे यह देहवासना है । शरीर को नष्ट नहीं करना है किन्तु हर समय इसी के पीछे नहीं रहना है । **मनुष्य शरीर का मूल्य है भगवत्प्राप्ति ।**

जब तक भगवत्प्राप्ति नहीं हो जाती तब तक शरीर को संभालकर रखना है किन्तु इस शरीर से विषय भोगना है इसलिये इसको बहुत चमकदमक के साथ रखो यह पतन का रास्ता है । यह शरीर भगवान की प्राप्ति का साधन है इसलिये साध्य की प्राप्ति तक इसे रक्षित रखते हुए साधन कराना है और इसी कारण इसका लालन पालन करना है ।

(44)

सामान्य धर्म का पालन करना प्रत्येक का कर्तव्य है । मनु ने सामान्य धर्म के दस लक्षण कहे हैं—

**धृति क्षमा दमोऽस्तेयं
शोचमिन्द्रिय निग्रहः ।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो
दशकं धर्म लक्षणम् ॥**

1. धैर्य, 2. क्षमा, 3. मन को वश में रखना, 4. चोरी न करना, 5. पवित्रता रखना, 6. इन्द्रियों को वश में रखना, 7. लज्जा, 8. विद्या का अभ्यास करना, 9. सत्य वचन का पालन और 10. क्रोध न करना । ये धर्म के दस लक्षण कहे गये हैं ।

सुख और दुःख दोनों में धैर्य की आवश्यकता है । लिखा है—**व्याज्यं न धैर्यं विधुरेऽपि काले** विधुरकाल अर्थात् आपत्तिकाल में भी धैर्य का त्याग न करे । सम्पत्तिकाल में भी धैर्य की आवश्यकता है जिससे संपत्ति का दुरुपयोग न हो । पहले के सेठ साहूकार साधारण जीवन व्यतीत करते थे, उन्हें संपत्ति में धैर्य था । धैर्य के अभाव में वस्तु का दुरुपयोग होता है । जैसे सम्पत्ति और विपत्ति वैसे ही मान और अपमान दोनों में धैर्य की आवश्यकता है । ऐसा नहीं कि किसी ने कुछ प्रशंसा कर दी तो फूलकर बतासा हो गये । सम्मान के समय धैर्य रखना परम आवश्यक है अन्यथा सम्मान तो ऊपर से होता है और भीतर यदि अभिमान जाग्रत हो गया तो पतन का मार्ग खुल जायेगा ।

सन्यासियों को सम्मान में सदा धैर्य बना रहे इसलिये उनके लिये विधान है कि—एक ग्राम में एक रात्रि निवास करते हुए किसी वस्तु की इच्छा न करते हुए भूमण्डल पर विचरण करे ।

इतना असंग रहने का उपदेश इसलिये है कि मन रूप गोंद कहीं चिपक न

(41)

जाय। जगत है लिफाफा और मन है गोंद। लिफाफे में कहाँ कितनी गोंद लगाना उचित है यह निश्चय करने के लिये धैर्य आवश्यक है। जगत में धन, स्त्री, पुत्र इष्ट-मित्र ये सभी भिन्न-भिन्न आकार के लिफाफे हैं। किस लिफाफे में कितनी गोंद लगाना यह जान लेना परमावश्यक है। नहीं तो एक तोले के लिफाफे में कहीं दो तोले गोंद लग गई तो लिफाफा भी गंदा हुआ और गोंद भी बेकार गई। अर्थात् धन में कितना प्रेम हो, स्त्री पुत्र में कितना प्रेम हो, शत्रु से कितना द्वेष किया जाय इसका ज्ञान न रहा तो व्यवहार भी गन्दा हो जायेगा और मन भी अशान्त बना रहेगा। हम तो जगत में ही हैं। हम जगत से व्यवहार करते हैं उसमें प्रेम नहीं करते। पहले से ही हम माने हुए हैं कि जगत का पदार्थ क्षणभंगुर है इससे किसी भी वस्तु के वियोग से हमें दुःख नहीं हो सकता।

वस्तु में राग न रखो तो वियोग में दुःख का अवसर ही न आये। गोंद में थोड़ी चिकनाई लगा दो तो गोंद नहीं चिपकती। मन रूप गोंद में थोड़ा परमात्मा की चिकनाई (स्नेह) लग जाय तो फिर मन संसार रूपी लिफाफे में नहीं चिपकता।

मन को ही बचाना है

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्ध मोक्षयोः॥

मन ही बंधन और मोक्ष कारण है।

मनोहि द्विविधं प्रोक्तं, शुद्धं चाशुद्धमेव च।

अशुद्धं कामसंकल्पं, शुद्धं कामविवर्जितम्॥

मन दो प्रकार का होता है—एक शुद्ध और अशुद्ध। वासनायुक्त मन अशुद्ध कहलाता है और वासनाहीन मन को शुद्ध मन कहते हैं किन्तु सर्वसाधारण मन बिना वासना के नहीं रह सकता इसलिये मन के चिन्तन के लिये कोई-न-कोई विषय होना ही चाहिये—उसको ऐसा विषय दो जिसका कभी वियोग न हो और जो

(42)

दुःखद न हो, सुखदायी है।

स्थाई एवं सुखस्वरूप तो परमात्मा ही है। इसलिये मन को परमात्मा में लगाओ। परमात्मा में मन लग जायेगा तो वही मोक्ष का कारण बनेगा और परमात्मा में नहीं लगा, विषयों में धक्का खाता रहा तो फिर बंधन तो है ही।

विषयों के संबंध में यह बात है कि विषयभोग से कभी तृप्ति हो नहीं सकती। देवताओं को इन्द्रलोक में दिव्य विषयों के भोग से तृप्ति नहीं होती। इन्द्र को किस विषय की कमी है किन्तु वह भी स्वर्ग के विषय भोग में संतुष्ट नहीं होता, मृत्युलोक में धक्का खाने आया करता है। इसलिये यह तो निश्चय है भोग करके कोई वासना की पूर्ति करना चाहे तो नहीं हो सकती।

विवेक से ही वासना का संतोष होता है भोग से नहीं।

पहले नम्बर की मूर्खता है—विषय भोग में डूबकर विहित कर्मों को छोड़ देना और दूसरे नम्बर की मूर्खता है—सकाम जप-तप करके स्वर्गादि लोक लोकान्तरों की इच्छा करना या लौकिक वैभव यश आदि की इच्छा करना।

सिद्धान्त है कि जब तक हृदय से वासना नहीं जायेगी तब तक ज्ञान नहीं हो सकता। उपनिषद् का विधान है कि—

देह वासनया जन्तोः शास्त्र वासनयापि च।

लोक वासनया ज्ञानं, यथावन्नैव जायते॥

अर्थात् जब तक लोक वासना शास्त्रवासना और देहवासना रहेगी तब तक यथार्थ ज्ञान नहीं हो सकता और बिना परमात्मा के वास्तविक शान्ति संतोष का दर्शन नहीं हो सकता।

शास्त्रवासना अर्थात् हमेशा शास्त्राध्ययन करते रहने की इच्छा। शास्त्राध्ययन बुरा नहीं है परन्तु वासना रूप बुरा है। तुलसीदासजी ने रामायण में कहा है कि—

(43)

शरीर का उपचार नहीं किया जायेगा तब तक अशान्ति हट नहीं सकती।

एक बात महत्व की यह है कि यह जो व्यापार अशान्ति आजकल दीख रही है वह व्यक्तिगत मनुष्यों के मन की अशान्ति से ही है। इसलिये जब तक व्यक्तिगत रूप से लोगों के सूक्ष्म शरीर-मन का उपचार करके मन की मलिनता दूर न की जायेगी तब तक व्यक्तिगत अशान्ति की निवृत्ति नहीं हो सकती और जब तक व्यक्तिगत अशान्ति की निवृत्ति नहीं होगी तब तक विश्व शान्ति की बातें केवल बातें ही हैं।

वास्तव में शास्त्रीय भारतीय जीवन प्रणाली से ही विश्व शान्ति सम्भव है और उच्छृंखल, तरीकों से जीवन बिताया जायेगा तो दिनोंदिन और अशान्ति बढ़ेगी।



मर्यादा की रक्षा से व्यवहार परमार्थ दोनों उज्ज्वल

व्यवहार बिगड़ता है तो परमार्थ भी बिगड़ जाता है सत्संग की कमी से भगवान में प्रवृत्ति नहीं।

सत्संग की कमी के कारण भगवान में प्रवृत्ति नहीं होती। जब तक सत्संग के द्वारा भगवान के स्वरूप और उनकी भक्तवत्सलता तथा सर्वशक्तिमत्ता का बोध नहीं होगा तब तक उनमें इष्ट बुद्धि नहीं होगी।

जिसको मनुष्य सुख का साधन मानता है उसी में इष्ट बुद्धि होती है। धन, स्त्री, पुत्रादि से सुख मिलेगा ऐसा निश्चय होने पर उसकी प्राप्ति के लिये प्रयत्न करता है। धन में इष्ट बुद्धि होने से ही धनार्जन के लिये मनुष्य दिन-रात परिश्रम करता है। इसी प्रकार इष्ट बुद्धि जब परमात्मा में हो जाती है तब परमात्मा की प्राप्ति के लिये भी मनुष्य अभ्यास करता है। परन्तु अभ्यास में दृढ़ता तभी आती है जब शास्त्र और गुरुओं से यह निश्चय हो जाता है कि परमात्मा की प्राप्ति में सुख होगा और शान्ति मिलेगी।

(48)

छोटे-छोटे बैल के बच्चों को थोड़े दाम में लोग खरीद लेते हैं और उसकी खूब सेवा सुश्रूषा करते हैं, खूब खिला-पीलाकर उसको हृष्ट-पुष्ट बनाते हैं। जब वह बड़ा हो जाता है तो उसे अधिक मूल्य में बेच देते हैं फिर मूल्य मिल जाने के बाद यदि खरीदने वाला कहे कि आज शुभ मुहूर्त नहीं है इसको दो दिन और आप अपने घर में रख लो तो बेचनेवाला बार समझता है। वही पशु जिसको नित्य बड़े परिश्रम के साथ खिलाता-पिलाता था आज मूल्य मिल जाने के बाद एक दिन रखना भार हो गया। इसी प्रकार मनुष्य शरीर का मूल्य भगवान मिल जाने के बाद महात्मा लोगों को भार हो जाता है और फिर इस संबंध में उनकी नीति रहती है—

“नाभिनन्देत मरणं नाभिनन्देत जीवनम्।

कालमेव प्रतीक्षेत निर्देश भृतकोयथा।।

न वह मरने की इच्छा करता है न जीने की। आज्ञानकारी नौकर जैसे मालिक की आज्ञा की प्रतीक्षा करता रहता है उसी प्रकार वह समय की प्रतीक्षा करता है। अतः लोकवासनाओं को कम करो और परमात्मा में मिलने की कामना बढ़ाओ।



भगवान दीनदयाल हैं दुःखी दयालु नहीं

दीन होकर उनकी शरण में आने से ही उनकी दयालुता काम करेगी।

परमात्मा का नाम दीनदयालु है। जो दीन है उसके लिये परमात्मा दयालु है।

संसार में दुःखी तो बहुत हैं परन्तु दीन नहीं हैं। दीन वह जो सर्वथा निराधार हो गया है, संसार में कहीं भी जिसका कोई भी आधार न रह गया हो, संसार जिसको सर्वथा नीरस लगने लगा हो, किसी भी वस्तु में जिसका मन न लगता हो शब्द रूप रस गंध आदि विषयों से जो सर्वथा उपराम हो गया हो और जिसकी वृत्ति के लिये

(45)

कोई भी संसारिक आधार न रह गया हो ऐसा निराधार जीव ही वास्तव में दीन कहा जा सकता है।

ऐसे निराधार-दीन-के लिये जगदाधार परमात्मा दीनदयालु है।

ग्राह ने जब गज को पकड़ा तो गज उस समय सर्वथा निराधार हो गया कहीं भी उसे कोई सहायक नहीं दिखा। सर्वथा दीन होकर उसने संसार की आशा छोड़कर सर्वसमर्थ भगवान को पुकारा। उस समय दीनदयालु भगवान ने अपनी दयालुता का परिचय दिया।

द्रौपती चीर हरण के समय दीन हो गई थी। कोई भी उसका रक्षक नहीं रह गया था। इस निस्सहाय दीनावस्था में उसने भगवान को पुकार-दीनदयालु भगवान ने उस पर दया की।

जब तक संसार की आशा नहीं छूटेगी तब तक दीनावस्था नहीं आयेगी और दीन हुए बिना दीनदयालु की दयालुता के पात्र नहीं बन सकते।

दीनावस्था में प्राणी को केवल एक परमात्मा का आधार रह जाता है। दीन, परमात्मा के प्रति अनन्य होता है और अपने अनन्य भक्तों के लिये भगवान को भी अनन्य होना पड़ता है क्योंकि भगवान की प्रतिज्ञा है कि—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।

अर्थात् जिस प्रकार कोई मुझे भजता है उसी प्रकार मैं भी उसे भजता हूँ।



मन को शुद्ध बनाने के लिये आहार शुद्धि आवश्यक

मनमानी करना हो तो पहले मन को शुद्ध बनाओ। मन को शुद्ध बनाने के लिये सत्संग, जप, पूजा, पाठ, भगवच्चिन्तन तथा शास्त्राभ्यास उपयोगी माने गये हैं।

प्राणायाम से भी मन की चंचलता दूर होकर मन पवित्र होता है। किन्तु इसका

(46)

साधारण अभ्यास तो करने में कोई हानि की शंका नहीं परन्तु कुछ विशेष अभ्यास करना हो, तो बिना किसी अच्छे योगी का सहारा लिये इस मार्ग में हानि की ही अधिक संभावना रहती है। अविधिपूर्वक प्राणायाम करने से या पथ्य का उचित पालन नहीं करने के कारण प्राणायाम से अनेकों प्रकार के रोग हो जाते हैं। इसलिये विचारपूर्वक ही इसका अभ्यास करना चाहिए।

मन की शुद्धि के लिये आहार शुद्धि भी अत्यंत आवश्यक है द्रव्य की कमाई का प्रकार उचित है कि नहीं। अविहित मार्गों से कमाये हुए धन के उपभोग से मन मलिन होता है।



विश्व की अशान्ति अन्न वस्त्र का ढेर लगाने से दूर नहीं होगी

अन्न वस्त्र का प्रबंध करना आवश्यक ही है किन्तु अन्न वस्त्र की अधिकता से विश्व में सुख शान्ति की स्थापना हो जायेगी यह आशा करना गलत है। अन्न वस्त्र का स्थूल शरीर से संबंध है और अशान्ति सूक्ष्म शरीर में होती है। इसलिये अन्न वस्त्र का ढेर लगा देने या भौतिक सामग्री की अधिकाधिक प्रचुरता होने से भी विश्व में शान्ति स्थापित नहीं हो सकती। सर्प को मारने के लिये बिल पर लाठी पीटी जाती है तो क्या सर्प मरेगा ? सूक्ष्म शरीर के रोग (अशान्ति) को दूर करने के लिये स्थूल शरीर संबंधी उपचार किये जाय तो क्या कार्य सिद्धि होगी ?

यदि किसी मनुष्य को फाँसी का हुक्म हो जाय तो उसके मन में घोर अशान्ति और चिन्ता हो जायेगी तो क्या उसके स्थूल शरीर का श्रृंगार करने और शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध आदि इन्द्रिय उपभोग की भौतिक सामग्री से उसकी अशान्ति हटाई जा सकती है ? निश्चय है कि अशान्ति का स्थान सूक्ष्म शरीर है और जब तक सूक्ष्म

(47)

में सकाम अनुष्ठान के कितने ही विधान दिये हुए हैं। यह सब सांसारिक कार्यों की पूर्ति के लिये हैं।

परन्तु वेद और शास्त्र प्रेरक हो सकते हैं। पथ-प्रदर्शक नहीं। वेदों के अध्ययन से यज्ञ अनुष्ठानादि करने की इच्छा जाग्रत हो सकती है। रास्ता तो सद्गुरु ही बता सकते हैं। पुस्तकों में ज्ञान का भण्डार छिपा पड़ा है तो भी ठीक-ठीक विद्या प्राप्त करने के लिये शिष्य गुरु की ही शरण में जाता है। वह अपना पाठ्यक्रम नहीं बना सकता। अध्ययन मार्ग पर तो बिना सद्गुरु की सहायता से एक पग भी आगे नहीं बढ़ा जा सकता। सद्गुरु वह है जो ज्ञान-विज्ञान सम्पन्न हो अर्थात् जो वेदशास्त्रों के रहस्य का ज्ञाता है और जिसने स्वयं साधन सम्पन्न होकर भगवान का साक्षात्कार किया है। सद्गुरु के लक्षण यह हैं कि उसे संसार के प्रति राग नहीं रहता। प्रारब्ध भोग के लिये रागाभास ही शेष रह जाता है। ऐसे सद्गुरु को प्राप्त करके उसके बताये हुए मार्ग पर अत्यंत श्रद्धा और विश्वास के साथ चलते हुये सिद्धि प्राप्त की जा सकती है।

ऊपर चढ़ने के लिये सोपान का सहारा लेना पड़ता है। सोपान को त्यागकर कोई ऊपर नहीं जा सकता। इष्ट का साक्षात्कार करने का सोपान है—गुरूपदिष्टमार्ग। लोग प्रायः सोपान त्यागकर ही सिद्धि प्राप्त करना चाहते हैं और कुछ दिनों के प्रयत्न के बाद सफलता मिलती न देखकर साधना छोड़ बैठते हैं और फलस्वरूप अध्यात्म में अपनी श्रद्धा भी खो देते हैं। कोई इक्षुदण्ड पानी में डालकर धोये और आशा करे कि पानी मीठा हो जायेगा तो यह कैसे होगा ? पीछे निष्कर्ष निकालना कि इक्षुदण्ड में शर्करा नहीं होती सर्वथा असंगत होगा। अध्यात्म मार्ग की बातें किसी को भुलावा देने के लिये काल्पनिक, मनगढंत बातें नहीं हैं। केवल साधन सम्पन्न न होने के कारण सिद्धि में देर लगती है।

साधक को प्रमादरहित होकर सावधानी के साथ अपने मार्ग पर बढ़ना चाहिये।

(52)

परमात्मा को चाहते हो तो आस्तिक बनो। वेदोक्त धर्माधर्म में विश्वास करना ही आस्तिकता है। जब तक वेदशास्त्र में विश्वास नहीं करोगे तब तक परमात्मा के स्वरूप पर कोई निश्चय नहीं हो सकता और स्वरूप निश्चय हुए बिना विश्वास किस पर करोगे ? जब तक विश्वास दृढ़ नहीं होगा तब तक परमात्मा का यथार्थ दर्शन होना संभव नहीं है।

इसलिये पहली चीज है आस्तिकता का होना वेदोक्त धर्माधर्म में विश्वास करो। धर्म करो और अधर्म को छोड़ो। स्वधर्मानुष्ठान ही भगवान के निकट पहुँचने की सीढ़ी है। स्वधर्मानुष्ठान करो और संसार से राग कम करते हुए परमात्मा में राग बढ़ाओ। जब व्यवहार बिगड़ता है तब परमार्थ भी बिगड़ जाता है। स्त्रियों को चाहिए कि अपने पति, पुत्र या किसी अभिभावक के साथ ही साथ वार्त्ता सत्संग आदि में जायें। स्वतंत्र रूप से यहाँ वहाँ घूमने की मर्यादा नहीं है। कोई साधू हो और उसकी सेवा करने की इच्छा हो उसको भोजन दे दो, वस्त्र दे दो परन्तु एकान्त में पंखा करना और पैर दबाना आदि मर्यादा से बाहर है।

जहाँ मर्यादा का उल्लंघन किया जाता है वहीं धोखा होता है। सीता ने मर्यादा रेखा का उल्लंघन किया तो रावण के द्वारा हरी गई और कितना-कितना कष्ट भोगना पड़ा।

यदि आप लोग मर्यादा के बाहर जाओगे तो इसी प्रकार आपत्ति और अशान्ति भोगनी पड़ेगी। मर्यादा की रक्षा रहेगी तो व्यवहार और परमार्थ उज्ज्वल बनेगा।



धन संग्रह से अधिक प्रयत्न बुद्धि शुद्ध करने के लिये करो

सन्तान के लिये धन संग्रह में आप लोग प्रयत्न करते हैं उसका आधा प्रयत्न भी यदि बुद्धि शुद्ध करने के लिये करें तो बहुत लाभ हो।

(49)

बुद्धि शुद्ध रही तो धन कम करते हुए भी सन्तान सुख शान्ति का अनुभव कर सकती है और यदि बुद्धि दूषित रही तो अनन्त धन-धान्य रहते हुए भी कुसंग में पड़कर सन्तान दुःख और अशान्ति ही भोगेगी इसलिये बुद्धि शोधन के लिये प्रयत्न पहले करो, पीछे धन संग्रह करो।

संतान का गर्भाधान संस्कार विधान से कराओ और बाकी संस्कार भी समय पर होना चाहिये। उपनयन के बाद बालकों को संध्या गायत्री में अवश्य लगाओ। भगवान के जब ध्यान से ही बुद्धि की मलिनता दूर होती है।

संतान की बुद्धि शुद्ध करने का ध्यान यदि प्रारंभ से ही न रखा गया तो आगे चलकर पछताना ही हाथ रहता है। जैसा बीज बोओगे वैसा ही तो काटोगे।



घर में रहते हुए ही महात्मा बनो मन की धारा को बदलो

वेश कल्याणकारी नहीं, निष्ठा से कल्याण होगा।

जो जहाँ है वह वहाँ रहते हुए ही महात्मा बन सकता है। गेरुआ वस्त्र या तिलक छापे से कोई महात्मा नहीं होता। वेश कल्याणकारी नहीं, निष्ठा से कल्याण होता है। मन की वृत्ति में महात्मापन होता है। इसलिये जहाँ हो वहाँ रहते हुए मन की धारा को बदलो—संसार का चिन्तन भीतर से कम करो और परमात्मा का चिन्तन बढ़ाओ।

आजकल अचिन्त्य (चिन्तन न करने योग्य) को चिन्त्य (चिन्तन करने योग्य) मान लिया गया है। मुख्य चिन्त्य परमात्मा ही है। उसका चिन्तन न करके अचिन्त्य संसारी पदार्थों का चिन्तन किया जाता है। इसलिये सुख-शान्ति का अनुभव नहीं होने पाता। यदि प्राणी का रक्षण केवल सांसारिक कार्यों और विषय

भोगों के लिये है तो वह लुहार की धौंक्ती ही है। प्राण का पोषण करो और उसे परमात्मा में लगाओ।

पहले श्रद्धा उत्पन्न करो। धन में श्रद्धा है तभी तो उसका चिन्तन करते हो। जब परमात्मा में श्रद्धा हो जायेगी तो उसी का चिन्तन होने लगेगा। विचार करो कि धन आदि समस्त सांसारिक पदार्थ यहीं पड़े रह जायेगे और आगे की यात्रा अकेले ही करनी पड़ेगी। उसे आगे की यात्रा के लिये अभी से कुछ तैयारी कर चलो। परमार्थ में श्रद्धा बढ़ाओ। नित्यानन्द स्वरूप परमात्मा में प्रेम बढ़ाओ। जो चीज यहीं पड़ी रह जाने वाली है अर्थात् जगत की व्यावहारिक चीजों में केवल शिष्टाचार बनाओ और मुख्य श्रद्धा परमार्थ में करो जो साथ जायेगा।

एक बार भी निश्चय हो जाय कि यह रुपया का ढेर मदारी का बनाया हुआ है, क्षणिक है, तो फिर चाहे कोई कितना भी लालच दे पर उसमें प्रेम नहीं हो सकता। मदारी के क्षणिक रुपये के समान ही संसार के समस्त पदार्थ और सम्बन्ध क्षणिक ही हैं इसलिये इनसे व्यवहार तो करो और ऊपर से शिष्टाचार पूरा रखो परन्तु मन के भीतर इसका स्थान मत बनाओ। मन में नित्य अविनाशी आनन्दस्वरूप परमात्मा को स्थान दो। मन में हमेशा भगवान का स्मरण बना रहे और मर्यादा का उल्लंघन न हो यही महात्मापन है।



साधक को प्रमाद रहित होकर सावधानी के साथ साधनारत रहना चाहिए

लोग दुःखी इसलिये हैं कि वह अपना कोई इष्ट नहीं बना पाते। इष्ट सिद्धि कर लेने पर परलोक ही नहीं इहलौकिक अभ्युदय भी प्राप्त किया जा सकता है। वेदों

गया है उससे खरीदा गया अन्न बुद्धि को भ्रष्ट ही करता है।

बाण शैय्या पर पड़े हुये गांगेय भीष्य जैसे ज्ञानी पुरुष ने भी द्रौपदी से अपनी भूल स्वीकार करते हुये कहा था कि—बेटी! पापी दुर्योधन का अन्न खाकर मेरी बुद्धि भ्रष्ट हो गई थी। इसलिये सभा में तेरा अपमान होता देखकर मैं भी चुप बैठा रहा।

जब दूषित धन के अन्न से भीष्म जैसे तपस्वियों की बुद्धि भ्रष्ट हो गई तो आजकल दूषित अन्न के खाने से किसकी बुद्धि शुद्ध रहेगी? इसलिये धन पर ही मन बुद्धि की पवित्रता, अपवित्रता निर्भर है। देहाती कहावत है—

“जैसा खावै अन्न वैसा बने मन”

इसलिये धन कमाने का प्रकार शुद्ध बनाओ और धन का सदुपयोग करो। धन का अभिमान हो गया तो फिर धनवान होकर ही अपने कर्तव्य की इतिश्री मान लोगे और यह जीवन धन के लिये ही हो जायेगा, इसलिये धनाभिमान से बहुत बचो।

ये जो अष्ट पाश कहे गये हैं इनसे परमार्थ में तो बाधा है ही, परन्तु व्यवहार भी इनके द्वारा गंदा होता है। इसलिये इनको छोड़ो तो व्यवहार भी बनेगा और भगवान के निकट भी पहुँचोगे।



साधक की सफलता के लिये सद्गुरु की प्राप्ति और साधक में श्रद्धा का होना आवश्यक

भलीभाँति छान-बीन करने के उपरान्त एक बार सद्गुरु प्राप्त हो जाय तो बस फिर उसके वाक्यों को मूल मन्त्र मानकर चलाने की आवश्यकता है। अस्थिर चित्त, छिछली श्रद्धा और पौरुषहीनता से परमार्थ तो क्या स्वार्थ सिद्धि भी नहीं हो सकती।

(56)

जैसे भोजन के एक ग्रास से तुष्टि-पुष्टि एवं क्षुत् निवृत्ति का अनुभव होता है वैसे ही अभ्यास करते करते साधक को अपनी प्राप्ति का अनुभव होने लगेगा। नित्य प्रति इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि पुण्य कार्य अधिक से अधिक हों और पाप कम से कम। पाप मनुष्य जीवन का मल है। जैसे मल की सफाई के लिये घर में प्रतिदिन झाड़ू दी जाती है, वैसे ही पाप रूपी मल की सफाई के लिये सन्ध्यादि नित्य कर्म बताये गये हैं। द्विजातियों को जिन्हें सन्ध्यावन्दन का अधिकार प्राप्त है प्रमादरहित होकर नित्य कर्म करना चाहिये। उसके पश्चात् ही अपने इष्ट का जप करना चाहिये। दिन रात में कितने ही घण्टे इधर-उधर व्यर्थ की बातों में नष्ट कर देते हैं। यदि एक-दो घण्टे नित्य कर्म करते हुए इष्ट के जप में लगाये तो कोई बड़ी बात नहीं है। जहाँ संसार के अनेक कार्यों में लोग अपनी शक्ति का अपव्यय करते हैं वहाँ थोड़ा-थोड़ा भगवद्भजन भी करते चलें तो लोक परलोक दोनों बनेंगे।



भगवत्प्राप्ति के मार्ग में आठ बाधाएँ

भगवान् कहीं दूर तो हैं नहीं। निकट ही हैं। उनके दर्शन करना कठिन नहीं है यदि साधन मिल जाय तो। भगवत्प्रेम में विशेष रूप से आठ बाधाओं का उल्लेख किया गया है। यही अष्टपाश-अर्थात् जीव को आवागमन के चक्कर में बाँधे रहने के लिये आठ बंधन कहे गये हैं।

घृणा, शंका, भय, लज्जा, जुगुप्सा, चेति पंचकम्।

कुलं शीलञ्च वित्तञ्च अष्टौ पाशाः प्रकीर्तिताः॥

अर्थात् दया, शंका, भय, लज्जा, निन्दा, कुलाभिमान, शील, धनाभिमान, भगवान की प्राप्ति में आठ बाधयें हैं। जब तक इन बंधनों को छोड़ा नहीं जायेगा, तब तक परमात्मा की प्राप्ति संभव नहीं।

दया प्रथम पाश है। प्रश्न हो सकता है तो क्या क्रूर होना चाहिये? नहीं। जब

(53)

दया ही पाश है तो क्रूरता तो और भी मोटा पाश होगा। अपने पोष्य वर्ग की आवश्यकता पूरी कर दो पर उनमें मन न लगाओ। उनका मनन न करो। दयार्त होकर अपने मन में उनका स्थान न बनाओ। राजा भरत को दया से कौन सा ऊँचा पद मिल गया। राज्य में राग नहीं स्त्री, पुत्र, धन में राग नहीं पर दयावश मृग के पाश में पड़ गये। मरते समय उसका स्मरण किया तो उन्हें मृग का जन्म लेना पड़ा।

शंका दूसरा पाश है। शंका से बड़ा अनर्थ होता है। भगवान स्वयं कहते हैं ‘संशयात्मा विनश्यति।’ भगवान् विष्णु भी सामने आ जायें पर यदि संशय रहित नहीं हुये हो तो यही शंका करोगे कि क्या प्रमाण कि यह विष्णु हैं। श्रुति का कथन है कि जो संशयरहित हैं उन्हीं की मुक्ति होता है। जिनका चित्त संशय में पड़ा रहता है उनको नाना जन्मों में भी कभी मुक्ति प्राप्त नहीं होती। अतः वेद शास्त्र तथा वेद शास्त्र सम्मत महात्माओं की बात मानो।

भय तीसरा पाश है। संसार में भय द्वितीय के अभिनिवेश से होता है। यदि सर्वत्र अपने इष्टदेव को ही देखो तो फिर भय कैसा ? श्रुति कहती है ‘द्वितीया द्वैय भयं भवति।’ प्रहलाद का भय क्यों चला गया ? उसे तो जल में, थल में, अग्नि में, खम्भ में सर्वत्र अपने इष्टदेव ही दिखलाई पड़े तो भगवान ने भी सब जगह उनकी रक्षा की। आप लोग सब ‘प्रहलाद ही हैं केवल उसकी जैसी निष्ठा बनाओ। निर्भय की शरण हो जाओ भय अपने आप हट जायेगा।

लज्जा चौथा पाश है। आजकल लोग सत्कर्म करते हुये लजाते हैं। लज्जा रक्खो, यह तो मर्यादा है। पर भगवान् के नाम लेने में लज्जा कैसी ?

जुगुप्सा अर्थात् निन्दा करना पाँचवा पाश हैं। निन्दा तो झूठ ही होती है पर किसी में सचमुच भी दोष हो तो उसका कथन करने में कोई लाभ नहीं। शास्त्र तो परिवाद करने की भी आज्ञा नहीं देता। कोई पाप करे तो करे तुम उसका चिन्तन क्यों

करते हो ? कोई पापाचारी बना तो तुम निन्दाकाचार्य मत बनो। निन्दा करने वाले जिसकी निन्दा करते हैं उसका पाप अपने सिर पर ले लेते हैं। तुलसीदास ने कहा है कि—

“परनिन्दा सम नहि अधमाई ।”

भगवान् कृष्ण ने भी अर्जुन से यही कहा कि तुम असुइया-निन्दा रहित हो इसलिये ज्ञान के अधिकारी हो। अतः जुगुप्सा छोड़ो।

कुलाभिमान छठवाँ पाश है। व्यष्टि अहंकार नहीं होना चाहिये। कुलीन होते हुए भी यदि दुष्कर्म करोगे तो पाप से नहीं छूट सकते। कुलीनता का महत्व दूसरे को नीचा दिखाने के लिये नहीं हैं। केवल हम दुष्कर्म न करें यही कुलीनता का उपयोग है। कुलीन होते हुए यदि नीच कर्म किये तो कुलीनता का बड़प्पन व्यर्थ है। इसलिये सत्कर्म करो पर कुलीनता का अहंकार छोड़ दो।

शील सातवाँ पाश है। ऐसा शील किस काम का जिससे संगति में पड़कर अवैध कर्म कर बैठो ? मित्रों के आग्रह करने पर मदिरा पी लेना ठीक नहीं। ऐसा शील तो सर्वनाश का कारण बनेगा। इस प्रकार का शील भगवत्प्राप्ति के मार्ग में बाधक है।

धनाभिमान आठवाँ पाश है। व्यवहार चलाने के लिये धन कमाओ पर धन का पैदा करना और उसका व्यय करना भी सीखो। अभिमान करना ठीक नहीं। अनर्थपूर्वक कमाया हुआ धन अनर्थ ही करेगा। उससे पुण्य नहीं हो सकता। किराये के पंडित लगाकर पूजापाठ करवा लेने से कोई यह आशा न करे उसके लिये स्वर्ग से विमान आता होगा। दूसरों को दुःख न पहुँचाते हुए सज्जन पुरुषों के मार्ग पर चलते हुए धन कमाओ। यही वैद्य उपाय है। जो धन अवैध ढंग से अर्जित किया

अपने आन्तरिक षडरिवर्ग पर विजय प्राप्त किये हुए हों, अन्यथा यही चरितार्थ होता है कि—“स्वयं नष्टः परान्शयति” एवं “स्वयं भ्रष्टः परान्भ्रंशयति”। पिछली कई शताब्दियों का विश्व इतिहास इस बात का साक्षी है कि प्रबल राष्ट्रों के सूत्रधारों ने अपने आन्तरिक काम, क्रोध, लोभ, मोह, आदि से प्रेरित होकर अनेकों बार पृथ्वी को रक्त-रंजित किया है। यह पाशविकता है। जिन पर राष्ट्र संचालन का भार हो उन्हें विशेष रूप से विचार-शक्ति से काम लेना चाहिये। अपने काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि भावों के आवेश में बहकर समस्त संसार को महत्त्वाकांक्षा की पूर्ति दिग्भ्रमित करना मानवता नहीं है।

बाह्य शत्रुओं का दमन कहाँ तक किया जा सकता है ? एक को दमन करके फिर दूसरे शंकित से होकर उसके दमन की तैयारी करते रहना और इस प्रकार उद्विग्न रहते हुए विश्व की सुख शान्ति को सदैव शंकित रखना, यह तो शत्रु-दमन एवं विजय का कोई लक्षण नहीं है। जब तक आन्तरिक शत्रुओं पर विजय प्राप्त न की जायेगी तब तक यही हाल रहेगा। इसलिये, यह अत्यंत आवश्यक है कि राष्ट्र के कर्णधार अपने आन्तरिक षडरिवर्ग पर विजय प्राप्त किये हुए हों। ऐसे यथार्थ विजय सूत्रधार ही समाज, राष्ट्र एवं विश्व की स्थायी सुख-शान्ति का पथ-प्रदर्शन सफलतापूर्वक कर सकते हैं।

काम, क्रोधाधिकों पर विजय पाना अत्यंत कठिन नहीं है। बिना समझे ही लोग इसे असाध्य मान बैठते हैं। बहुधा लोगों की यह धारणा हो गई है कि निवृत्ति मार्गावलम्बी महात्मा ही षडरिवर्ग पर विजय पा सकते हैं, किन्तु यह धारणा केवल अज्ञान-मूलक ही है। निवृत्ति मार्गी तो काम, क्रोधादिकों के मूल कारण (सांसारिक व्यवहार) को ही तिलांजलि दे देता है। उसके लिये तो इन पर विजय और पराजय का कोई प्रश्न ही नहीं उठता।

षडरिवर्ग पर विजयी तो वही माना जा सकता है जो व्यवहार में बराबर प्रवृत्त रहे और काम-क्रोधादि उस पर अपना स्वत्व न जमा सकें। शत्रु को आघात कर सकने का

सारा संसार भी एक बार साधक की श्रद्धा को डिगाना चाहे तो भी उसे विचलित न होते हुए असीम दृढ़ता, धैर्य और लगन के साथ साधनारूढ़ रहना चाहिये।

प्रश्न हो सकता है कि श्रद्धा की उपयोगिता क्या है ? बात यह है कि जितनी दृढ़ श्रद्धा होगी उतनी ही तीव्रता के साथ चित्त-वृत्तियाँ साधन में एकाग्र होंगी। चित्त-वृत्तियों के निरोध को ही तो योग कहा है। योगाश्चित्तवृत्ति निरोधः।

मन जब तक शंकाशील रहता है उसकी शक्ति बिखरी रहती है और साधन पूर्ण एकाग्रचित्त से नहीं चल पाता शंकाओं की निवृत्ति में तो अपनी बुद्धि का पूरा उपयोग करना चाहिये परन्तु एक बार शंका समाधान होने पर आवश्यकता इस बात की है कि दृढ़तापूर्वक उस मार्ग पर चला जाय यह तभी होगा जब श्रद्धा पुष्ट होगी।

बुद्धि सदा एक सी रहती नहीं। रजोगुण और तमोगुण से आच्छादित होने पर बुद्धि पुनः नई-नई शंकायें उपस्थित करने लगती है। इसलिये यदि हम सदैव बुद्धि की आज्ञा पर ही नाचते रहे और फिर निरन्तर दृढ़ता के साथ कार्य करना असम्भव हो जायेगा। इसलिये साधन पथ पर बुद्धि की इतनी आवश्यकता नहीं जितनी श्रद्धा की। हम दृढ़ता के साथ बराबर अपने कार्य में लगे रहें इसलिये उसमें श्रद्धा रखने की आवश्यकता है।

आजकल के कथित बुद्धिवादियों में यदि कोई समान गुण पाया जाता है तो वह दृढ़ता की नितान्त कमी। उसके सिद्धान्त नित्य प्रति बदलते रहते हैं जिनमें केवल वागजाल के अतिरिक्त अन्य कुछ होता नहीं। तात्पर्य यह कि साधना में आगे बढ़ने के लिये श्रद्धा हमारे लिये अन्धे की लकड़ी है। इसे छोड़ा कि हम पथ भ्रष्ट हुये। यही रहस्य है भगवान् कृष्ण के इन शब्दों का कि—

‘श्रद्धावान लभते ज्ञानम्’ ‘संशयात्मा विनश्यति।’

गुरु मन्त्र और औषधि में जैसी श्रद्धा होती है वैसी ही सिद्धि होती है।

सद्गुरु का प्राप्त होना और साधक का श्रद्धा सम्पन्न होना बस यह दो बातें हुई तो

आगे का रास्ता अधिक कठिन नहीं रह जाता। गुरु के दिये मंत्र का जप करते-करते साधक की बुद्धि शुद्ध होने लगती है और उसे स्वयं आत्मानन्द का अनुभव होने लगता है।

ईश्वर सर्व व्यापी हैं, वह हमारी सब प्रकार की चेष्टाओं को जानते हैं, हमारी प्रार्थनाओं को सुनते हैं, हमारे ईश्वर-प्रेम, सदाचार और भक्ति से प्रभावित होकर हमें कल्याण मार्ग का पथिक बनाते हैं। जब हमारी ईश्वरोपासना में भक्ति दृढ़ हो जाती है, तो तदाकार वृत्ति बनकर ईश्वर का साक्षात्कार हो जाता है और वहीं हमारे सकल पुरुषार्थ की सिद्धि होती है।



अपने मन की दरिद्रता हटाओ

पत्ते खाकर रहो परन्तु पेट के लिये पाप मत करो।

ब्राह्मण तो हिन्दू समाज को आगे बढ़ाने के लिये इंजिन के समान है। आज इंजिन बिगड़ जाने के कारण ही गाड़ी रुकी पड़ी है। कोई भी पदच्युत हो परन्तु ब्राह्मणों को तो स्वप्न में भी स्वधर्मानुष्ठान से विमुख होने की बात नहीं सोचनी चाहिए। मत भूलो कि तुम महर्षियों की सन्तान हो जो वन के फल-फूलों को खाकर, तृण की कुटियों में निवास करते थे परन्तु चक्रवर्ती राजा भी उनके चरणों में धक्के खाते थे।

सन्यासी द्विजोत्तम होता है। द्विज अपने कर्तव्य से च्युत हो तो द्विजोत्तम का कर्तव्य है कि उन्हें स्वधर्मानुष्ठान में आरूढ़ करे। अपने मन की दरिद्रता को त्यागो। चाहे पत्ते खाकर रहो पर वृत्ति के लिये अपने को नीचे न गिराओ। यदि ऐसी दृढ़ता दिखाओगे तो इन्द्र भी तुम्हारा अनिष्ट नहीं कर सकता है।



काम क्रोध आदि ही अपने वास्तविक शत्रु हैं

यही बाहर निकलकर व्यवहार में शत्रु बनाते हैं।

इन पर विजय प्राप्त करो, यही वास्तविक विजय होगी। विजय तो वास्तव में वही है जिसके अनन्तर पराजय की शंका न हो। बाह्य (व्यावहारिक) शत्रुओं का दमन करने से वास्तव में कोई स्थायी विजयी नहीं हो सकता, क्योंकि उससे शत्रुओं का स्थायी दमन नहीं होता। यथार्थ विजय तो आन्तरिक शत्रुओं पर अधिकार पाने से होती है। आन्तरिक शत्रु निग्रह ही स्थायी रूप से बाह्य शत्रु दमन का एकमात्र उपाय है, क्योंकि आन्तरिक शत्रु की बाह्य शत्रुओं का उत्पादन करते हैं।

आन्तरिक शत्रु हैं—काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर्य। यही आन्तरिक षडरिवर्ग बाह्य जगत में किसी को निमित्त बनाकर शत्रु बना लेते हैं, इसलिये यदि कोई अपने समस्त शत्रुओं पर विजय पाकर सुख शान्ति का अनुभव करना चाहता है तो उसे चाहिये कि अपने समस्त बाह्य (स्थूल) शत्रुओं का उद्गम-स्थान-काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य (इन छः सूक्ष्म शत्रुओं) का छेदन करें। बिना इस षडरिवर्ग पर विजय पाये बाह्य शत्रुओं का समूलोच्छेद नहीं हो सकता—यह ध्रुव सत्य है।

यह अनुभव सिद्ध है कि जिसने सूक्ष्म आन्तरिक शत्रुओं पर विजय प्राप्त ली उसके बाह्य शत्रुओं का उद्गम-केन्द्र विनष्ट हो जाता है और उसके समस्त शत्रुओं का समूलोच्छेद हो जाता है। फिर उसका कोई शत्रु नहीं रह जाता और वही वास्तव में सच्चा विजयी माना जाता है। उसी के लिये सच्चे स्थायी-सुख-शान्ति का भण्डार खुल जाता है।

जो राष्ट्र शत्रुओं से सर्वथा मुक्त होकर विश्व में सुख-शान्ति स्थापित करना चाहता है उसके लिये यह आवश्यक है कि उसके राष्ट्र-निर्माता अथवा कर्णधार

कि थोड़ी देर तो भगवान् का भजन पूजन कथा वार्ता की और बाकी समय विषय भोगों का चिन्तन करते रहो। विषयों से उपेक्षापूर्वक भगवान का ध्यान स्मरण चिन्तन करना चाहिए।

औषधि खाओ और कुपथ्य करते जाओ तो लाभ कैसे होगा ? भगवान का ध्यान चिन्तन कथन करना तो औषधि सेवन है और अनाचार, पापाचार, दूराचार आदि अविहिताचारण और विषय भोग की इच्छा है इस मार्ग का कुपथ्य। इसलिये कुपथ्य परिवर्तनपूर्वक औषधि का सेवन करो तो लाभ अवश्य ही होगा—जगत से उपेक्षा (मन में उपेक्षा) रखते हुए परमात्मा का चिन्तन करो यही अभ्यास वैराग्य का अर्थ है। इसी उपाय से मन वश में होता है।



संदेह मत करो कि भगवान का भजन व्यर्थ जागेया हर

हालत में मन को परमात्मा में लगाओ

जिसको आप बुलाते हैं वह समीप में आता ही है यदि भगवान को बुलाओगे तो ऐसा नहीं हो सकता कि वह न आये/बुलाने का विधान समझकर बुलाओगे तो अवश्यमेव परमात्मा निकट आयेगा इसमें संदेह नहीं है। मन इतना चंचल है और विषयों में इतना दृढ़ हो गया है कि छोड़ता नहीं है। इससे यह मालूम होता है कि मन का स्वभाव है लगना। विषयों में लगाया जाता है तो वहीं लग जाता है। परमात्मा में लगाने का अभ्यास किया जाय तो परमात्मा में भी लग जायेगा, यह निश्चित है।

जहाँ मन जाता है वहाँ यदि इसे कुछ रसास्वादन हुआ तो वहीं चिपक जाता है। भगवान में लगाया जायेगा और कभी भगवान् के दिव्य स्वरूप का रस मिल गया तो फिर वहीं चिपक जायेगा। इसलिये भगवत्-भजन में लगाना चाहिये। अभ्यास करते चलो। मन भागे तो भागने दो, तुम मत उसके पीछे भागो।

(64)

अवसर सदा प्राप्त रहे, किन्तु यह असमर्थतावश आघात न कर सके, तभी तो माना जायेगा कि वह दबा हुआ और पराजित है। व्यवहार में प्रवृत्ति (शास्त्रोक्त प्रवृत्ति) षडरिवर्ग पर विजय पाने में बाधक नहीं होती।

संसार के समस्त शत्रुओं का उद्गम केन्द्र, सूक्ष्म-शत्रु-पुञ्ज, पर विजय पाने के लिए वर्षों की भौतिक तैयारी करके रण-चण्डी को जागृत करने और जीवन को जीवन-मरण के बीच अशान्त बनाये रखने की आवश्यकता नहीं है, इसके लिये केवल विचार-शक्ति से ही काम लेकर समदर्शी हो जाने की आवश्यकता है।

समदर्शी उसे कहते हैं जो ठीक-ठीक देखता है—जो वस्तु जैसी है उसे वैसी ही देखने वाला समदर्शी कहलाता है वस्तु के स्वरूप में और उसकी दृष्टि में भेद नहीं आने पाता सर्वथा समत्व या सामञ्जस्य रहता है। उसकी दृष्टि में पदार्थ का यथार्थ अनुभव होता है, अर्थात् उसे भ्रम नहीं होने पाता। संसार मिथ्या है तो वह उसमें सत्य का आरोप नहीं करता, ब्रह्म सत्य है तो वह उसे सत्य मानता है। संसार का मिथ्यात्व और आत्मा का नित्यत्व जब मनुष्य को पुष्ट हो जाता है तब वह समदर्शी हो जाता है और तब वह समस्त पदार्थों को उनके वास्तविक स्वरूप में देखता है।

संसार के मिथ्यात्व का अर्थ है—परिवर्तनशील होने के कारण उसकी क्षणभंगुरता। इसको समझने के लिए कोई अधिक पाण्डित्य की आवश्यकता नहीं है—सभी को प्रत्यक्ष अनुभव हो रहा है कि संसार का प्रत्येक पदार्थ नश्वर है, वियोगान्त है—सूक्ष्म से सूक्ष्म और स्थूल से स्थूल सभी वस्तुयें परिवर्तनशील हैं। प्रत्येक जीव प्रत्यक्ष देखता है कि उसके सामने कितने ही जीव उत्पन्न होकर नष्ट होते रहते हैं। सभी को यह विदित है कि मेरे पूर्वज नहीं रहे और एक दिन मैं भी नहीं रहूँगा। यही तो संसार की क्षणभंगुरता है। इसे समझने के लिये बहुत प्रयास की आवश्यकता नहीं है। मनुष्य इसे प्रत्यक्ष अहिर्निश अनुभव कर रहा है, परन्तु फिर

(61)

भी विचार नहीं करता।

जिसने एक बार सतर्क होकर अच्छी तरह मनन करके विचारपूर्वक संसार की क्षणभंगुरता अपने हृदय में पुष्ट कर ली, वहीं आन्तरिक षडरिवर्ग पर विजय प्राप्त कर लेता है, क्योंकि जिस मनुष्य की समस्त लौकिक प्रपञ्ज की क्षणभंगुरता पुष्ट हो गई उसे किसी वस्तु से लोभ और मोह नहीं हो सकता, क्योंकि वह जानता है कि लोभ और मोह आज करेंगे कल उसका स्वयं परिवर्तन हो जाना है, इसलिये व्यर्थ लोभ-मोह करके उसके परिणाम में पश्चाताप और अशान्ति ही हाथ लगेगी, इसलिये उसके अन्तःकरण में लोभ और मोह अंकुरित ही नहीं होते। इसलिये बीज ही नष्ट हो जाता है। लोभ-मोह निर्बीज हो जाने से मात्सर्य भी निर्मूल हो जाता है। वह किसी से मात्सर्य भी नहीं करता। किसी लौकिक वैभव, धन, पुत्र, विद्या आदि का उसे मद भी नहीं हो सकता। लोभ, मोह, मद और मात्सर्य न रहने से उसमें क्रोध स्वभावतः निर्मूल हो जाता है। ऐसे मनुष्य की कामनाएँ संकुचित होकर भगवत्परायण हो जाती हैं और वह कर्तव्य-बुद्धि से ही समस्त व्यवहार सम्पादन करता है। उसका व्यवहार स्वभाविक ही शास्त्रोक्त होता है और उसका जीवन संसार में कमलपत्र की भाँति असंग और निर्मल रहता है।

ऐसा समदर्शी क्रियाशील मनुष्य ही षडरिवर्ग पर विजयी माना जाता है—ऐसे मनुष्य के बाह्य शत्रु रह ही नहीं जाते—समस्त प्रकृति पर उसकी एक रसता शासन करती है। उसके शान्ति-साम्राज्य को भंग करने में कोई भी समर्थ नहीं हो सकता। ऐसा ही समदर्श महान विजेता विश्व की स्थायी सुख-शान्ति का सफल पथ-प्रदर्शक हो सकता है।

अस्तु आन्तरिक षडरिपु पर विजय पाना ही परमोत्कृष्ट वास्तविक विजय है, और इसी महान-विजय के लिये मनुष्य को प्रयत्नशील होना चाहिए।

अभ्यास और वैराग्य से मन को वश में करो

कुपथ्य को छोड़कर औषधि सेवन करो तो लाभ अवश्य होगा।

मनरूप मुलजिम को वश में करने के लिये अभ्यास और पथ्य दोनों की आवश्यकता होती है। मन की चंचलता रूपी व्याधि को नष्ट करने के लिये औषधि है अभ्यास और पथ्य है वैराग्य। अपने इष्टदेव में मन को लगाना ही अभ्यास है। उन्हीं का चिन्तन, उन्हीं का ध्यान, उन्हीं के संबंध में बात करना, उनके ध्यान, चिन्तन कथन ही निरन्तर करते रहना यही अभ्यास का स्वरूप है—

तत्कथनं तच्चिन्तनं,

अन्योन्यं तत्प्रबोधनम्।

एतदेक परत्वंच,

ब्रह्माभ्यास चतुर्विधाः।।

अभ्यास बढ़ने पर वैराग्य स्वतः हो जाता है। जब मन इष्ट में लग जाता है तो फिर शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध आदि विषयों में जाने के लिये उसे अवकाश ही नहीं मिलता। विषयों की उपेक्षा ही वैराग्य है। जब मन इष्ट में लग जाता है तो वैराग्य पीछे-पीछे फिरता है। इसलिए हम तो यही कहते हैं कि रागी बनने की आवश्यकता है। अर्थात् मन में इष्ट के प्रति राग उत्पन्न करने की आवश्यकता है। मन में इष्ट का स्मरण कभी भूले नहीं यही राग का लक्षण है। इसलिये रागी बनो, इष्ट में राग बढ़ेगा तो जगत में विराग स्वाभाविक ही हो जायेगा और यदि इष्ट में राग नहीं हुआ और जगत में विरागी बनने का प्रयत्न करने लगे तो सफल होना कठिन है। मन को यदि जगत से हटाना है तो उसको इष्ट चिन्तन में लगा दो, जगत से स्वतः हट जायेगा।

इसलिये अभ्यास करो वैराग्य स्वतः हो जायेगा। धीरे-धीरे मन को इष्ट में लगाओ और जगत में उपेक्षा की बुद्धि रखो—तो मन वश में हो जायेगा। ऐसा नहीं

होकर जीव शुभ संकल्पवान होकर उन्नतिशील होता है।

शुद्ध मन में अविहिताचरण की भावनायें नहीं उठतीं और अनाचार, दुराचार, पापाचार, भ्रष्टाचार आदि पतनकारी प्रवृत्तियों के अभाव में सदविचार, सदाचार, सत्यनिष्ठा, क्षमा, दया आदि दैवी प्रकृति के लक्षणों की प्रधानता होने के कारण मनुष्य लोक-परलोक में सदा सुख-शान्ति का अनुभव करता है।

इसलिये यदि मन की कामना चाहते हो तो मन को शुद्ध बना लो। शुद्ध मन से जो कुछ करोगे वह तुम्हारे लिये और दूसरे के लिये भी लाभदायक होगा।



कार्य की सिद्धि के लिये उचित प्रयत्न आवश्यक हैं

केवल इच्छा करने से सुख-शान्ति नहीं मिलेगी मनुष्य सुख-शान्ति का अनुभव करना चाहता है। किसी भी प्रकार से सुख-शान्ति मिले यही मनुष्य की इच्छा रहती है परन्तु किसी भी प्रकार से शान्ति नहीं मिलेगी। जो उसके मिलने का प्रकार है उसी प्रकार से मिलेगी।

निदान करना चाहिए कि अशान्ति का क्या कारण है और शान्ति का स्थान कहाँ है ? शान्ति और अशान्ति दोनों सूक्ष्म शरीर-मन की होती है। इसलिये यदि मन को ऐसा बना लो कि अनुकूल, प्रतिकूल, मौलिक परिस्थितियों में सदा वह एक रस रह सके तो फिर सदैव शान्ति का अनुभव करोगे।

शान्ति की इच्छा मात्र से शान्ति नहीं मिल सकती। किसी भी कार्य की पूर्ति के लिये इच्छा के साथ समुचित प्रयत्न होना आवश्यक है। सुख-शान्ति की इच्छा हो तो सुख शान्ति के लिये प्रयत्न करना पड़ेगा।

सुश-शान्ति के मार्ग का निर्देश करते हुए भगवान् कृष्ण ने गीता में कहा है कि शास्त्रानुसारी कर्मों को करने से ही स्थायी सुख शान्ति का अनुभव हो सकता है। मन में जो अशान्ति आई है उसके लिये ऐसा उपचार करना चाहिये जो मन पर असर

(68)

हर हालत में परमात्मा में मन को लगाओ। यह मत सोचो कि भजन करते हुए इतने दिन हो गये अभी कुछ नहीं हुआ। संदेह मत करो कि भगवान का भजन व्यर्थ जायेगा।

जिस पदार्थ के चिन्तन का अभ्यास रहेगा उसी का स्मरण अन्त समय में होगा और जिस भाव का स्मरण करते हुए शरीर छूटेगा उसी को प्राप्त करने के लिये जन्म लेना पड़ेगा यह निश्चित सिद्धान्त है—

यं यं वापिस्मरन्भावं,
त्यजत्यन्ते कलेवरं।
तं तमेवैति कौन्तेय,
सदा तद्भावभावितः॥

(गीता अ. 8 श्लोक 6)

इसलिये सब कुछ व्यावाहिक कार्य करते हुए भी परमात्मा का स्मरण करते रहो जिसमें भगवान के भजन की ही जीवन में प्रधानता रहे। भगवान का भजन सदा करते रहोगे तो अन्त समय में भी भगवान का ही स्मरण होगा और भगवान का कहना है कि—

अन्तकाले च मामेव
स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति त्यजन्देहं
सयाति परमां गतिम्॥

अन्तकाल में मेरा स्मरण करता हुआ जो शरीर छोड़ता है वह परम गति अर्थात् मोक्ष को प्राप्त होता है और

पुनरपिजननम्
पुनरपिमरणम्।
पुरापि जननी

(65)

जठरेशयनम् ॥

अर्थात् बार-बार जन्म-मरण और बार-बार माता के गर्भ की कठिन यातनाओं से छुटकारा पा जाता है और सदा परम-सुख शान्ति का उपभोग करता है।

मन को परमात्मा में लगाने का प्रकार है उसके स्वरूप का ध्यान करना

तज्जपस्तदर्थ भावनम्

शिव, विष्णु, शक्ति, सूर्य, गणेश सभी भगवान के ही रूप हैं, इनमें से किसी के भी नाम का जप करो और उसी मन्त्र के अनुरूप उसके स्वरूप का ध्यान करो—यही भगवान के भजन का प्रकार है। केवल जय करोगे तो मन यहाँ-वहाँ भागेगा। ध्यान करने से मन बँधता है इसलिये जप और ध्यान साथ-साथ चलाना चाहिये।



कुसंग से सदा बचते रहो

यदि संसर्ग अच्छा न रहा तो वृत्ति का नीचे गिर जाना आश्चर्य नहीं। काशी में दीनानाथ ब्रह्मचारी प्रहलाद घाट में रहते थे। यहीं पर एक लकड़ी का घाट था। वहीं लकड़ी वाले उनके निकट उठते बैठते थे। एक दिन टालवाले ने कहा ब्रह्मचारी आजकल शहर में लकड़ी की कमी है, भाव अच्छा आ रहा है तो ऐसा यदि आप करें कि मानिकपुर के जंगल में चले जाय। दो-चार बार कहते सुनते ब्रह्मचारी के मन में बात जम गई। दो हजार रुपया देकर टालवाले ने इन्हें मानिकपुर भेजा। उन्हीं जंगलों में हम उन दिनों थे। आये हमारे पास। हमने पूछा कि कहो क्या समाचार है ? उन्होंने कहा कि लकड़ी खरीदने के लिये आये हैं हमने कहा कि तुम्हारा असर उन लोगों पर पड़ना चाहिए था कि उनका असर तुम पर पड़े। लकड़हारों ने तुम्हें भी लकड़हारा बना दिया। छोड़ो यह विचार और ऐसे गंदे वातावरण वाली जगह भी छोड़ दो। किसी शुद्ध सात्विक एकान्त स्थान में जाकर भजन करो। यदि एकान्त में न रह सको तो संसर्ग ऐसे लोगों का रखो जो तुम्हारी लाइन के हो क्योंकि 'संसर्गज्ञा

गुण दोषा भवन्ति' जैसा संग होता है वैसे ही दोष-गुण आते हैं। कुसंग से सदा सावधान रहना चाहिए।



परमात्मा को अन्धा मत बनाओ चरित्रवान बनो और पाप करने से डरो

उसी मार्ग को अपनाओ जिससे लोक-परलोक दोनों बनें।

परमात्मा सर्वज्ञ है—वह सबसे सबके सब कर्मों को जानता है। इसलिये कोई पाप कर्म मत करो। ऐसा मत सोचो कि हमारे इस कार्य को कोई नहीं जानता। जिसको तुम्हारे कर्मों का फल देना है, जो फैसला करने वाला है वह बिना गवाही के ही सब कुछ जानता है। परमात्मा को अंधा मत समझो। यदि किसी से डरना ही है तो पाप करने से डरो, कोई बुरा कर्म मत करो।

परमात्मा को सर्वत्र उपस्थित मानोगे तो फिर तुमसे कोई पाप कर्म नहीं होगा इसलिये परमात्मा को व्यापक मानते हुए चरित्रवान बनो। अपने आचरण में पवित्रता लाओ, अपनी भावनाओं को शुद्ध बनाओ और स्वधर्मानुकूल व्यवहार करो तो अन्तःकरण ऐसा ही मार्ग अपनाओ। जिससे सब प्रकार का मंगल हो—लोक-परलोक दोनों बने।



मनमानी ही रुचिकर है तो पहले मन को शुद्ध बनाओ

लोक-परलोक में सारी उन्नति मन के ऊपर निर्भर करती है। मन यदि पवित्र है तो सर्वत्र उन्नति होगी और यदि मन अशुद्ध है तो विवेकहीन होकर मनुष्य सदा पतन की ओर आगे बढ़ेगा। अशुद्ध मन विषयों की ओर दौड़ता है। विषयानुराग का फल दुःख और पतन होता है। शुद्ध मन परमात्मा से अनुराग करता है। परमात्मा में भक्ति दृढ़ हो जाने पर विषय वासनाओं से अरुचि हो जाती है और विवेकपूर्ण

परमात्मा को प्राप्त कर लेने पर सुख और शान्ति स्वयमेव प्राप्त हो जाती है। परमात्मा तो हमारे निकट से निकट है पर काम, क्रोध, मोह, मद, मत्सर आदि का बीच में परदा पड़ा हुआ है इसलिये हम उसे देख नहीं पाते। जीव और ब्रह्म के बीच में व्यवधान लाने वाले इस परदे को नष्ट करने के चार उपाय शास्त्रों में बताये गये हैं। सत्संग, वासना त्याग, अध्यात्म विद्याविचार अर्थात् वेदान्त शास्त्र का मनन तथा प्राणस्पन्द निरोध (प्राणायाम)। इनमें से एक को भली प्रकार पकड़ लो तो काम पूरा हो जाय।



उचित और अनुचित क्या है ? इसके लिये शास्त्र का सहारा लो

मनुष्य अल्पज्ञ है उसकी एक क्षण आगे की बात का पता नहीं कि क्या होने वाला है, इसलिये क्या उचित है और क्या अनुचित है, यह मनुष्य अपनी बुद्धि के आधार पर निश्चय नहीं करता ? जब बुद्धि में तमोगुण आता है उस समय दूसरे पर क्रोध आदि करना ही वह उचित समझता है, परन्तु जब बुद्धि कुछ सात्विकी होती है तब उसी बात को अनुचित मानता है। इसलिये उचितानुचित एवं कर्तव्याकर्तव्य के सम्बन्ध में स्वतंत्र बुद्धि का प्रमाण नहीं माना जा सकता वेदादि शास्त्र ही इस सम्बन्ध में अन्तिम प्रमाण है। वेदशास्त्रानुसारी बुद्धि ही मन्य हो सकती है, स्वतंत्र बुद्धि नहीं। वेद शास्त्र बदलते नहीं और मनुष्य की बुद्धि तो क्षण-क्षण में बदलती है। भौतिक विज्ञान (साइन्स) के सिद्धान्त मनुष्यों की अल्प बुद्धि की उपज होने के कारण सदा बदलते रहते हैं। इसलिये अपौरुषेय सनातन वेद और वेदानुसारी शास्त्रों के आधार पर ही सत्यासत्य और उचित अनुचित का निर्णय किया जा सकता है, वही ठीक होगा।

(72)

डाले-मन की शुद्धि के जो प्रकार शास्त्रों में बताये हैं उन्हीं को कार्यान्वित करना चाहिये।



ब्राह्मण रमानुरागी (लक्ष्मी भक्त) न बने रामानुरागी बनें और शास्त्रानुकूल आचरण बनाएँ

ब्राह्मण तपोधनी होता है। ब्राह्मण का धन तप है। अपने धन से हीन हुआ और दूसरे के धन से धनी बना तो मँगनी की रईसी कितने दिन टिकेगी। रुपया पैसा वैश्यों का धन है। रुपया पैसे से यदि कोई ब्राह्मण अपने को धनी मान बैठे तो उसकी भारी भूल है। ब्राह्मणों को रमानुरागी नहीं रामानुरागी बनना चाहिये। ब्राह्मण लोग भूल गये हैं कि वे उन महर्षियों की सन्तान हैं जो पत्ते खाकर और जल पीकर रहते थे परन्तु नवीन सृष्टि उत्पन्न करने का सामर्थ्य रखते थे। अपने अधिकार को भूलकर ही वे लोग अपने धन से हीन हो रहे हैं और यही कारण है कि रुपया पैसा को ही सर्वस्व मानकर उसी को प्रधान धन मान बैठे हैं।

इन्हें चाहिये कि रमानुराग को कम करके रामानुराग बढ़ायें अर्थात् लक्ष्मी के लिये चिन्ता न करके लक्ष्मी-पति भगवान् को प्राप्त करने के लिये चिन्ता करें।



मनुष्य शरीर को व्यर्थ न गँवाओ समय का सदुपयोग करो

संसार सागर से पार होने के लिये मनुष्य शरीररूपी सुन्दर नौका मिली है। यह नौका सदा अपने अधिकार में रहने वाली नहीं। जब तक अपने अधिकार में है तब तक ऐसा प्रयत्न करो कि इसके सहारे भवसागर से पार हो जावें।

जब तक यह अपने अधिकार में है तब तक इसका सदुपयोग करो। यदि समय

(69)

का मूल्य न किया तो जब इसके छोड़ने का परवाना आयेगा तो निराधार होकर चारों तरफ रोते फिरोगे। उस समय कोई सहायक न होगा, और निश्चय है कि एक मिनिट की भी मोहलत नहीं मिलेगी नौका हाथ से छूट जायेगी और फिर न जाने कब तक संसार समुद्र में, निराधार होकर, डूबते उतराते हुए जन्म मरण की घोरतिघोर यातनाओं सहनी पड़ेगी।

इस शरीर से विहित कार्य करो। अविहित कार्य मत करो। इन्द्रियों के उद्रेक को विचार के द्वारा रोको। सतर्क रहो कि इन्द्रियाँ मन को अविहित विषय भोग के लिये प्रवृत्त न कर दें। अपने विवेक को जागृत रखो और यह कभी न भूलो कि पाप का फल दुःख होता है। सदैव शास्त्र के आधार पर पुण्य पाप का ध्यान रखो, पुण्य करो, पाप से बचो और अपने मन को व्यवहार में अधिक न फँसाकर परमात्मा में लगाओ। इसी से लोक-परलोक में सुख-शान्ति का अनुभव करोगे। ऐसा करना ही मनुष्य जन्म की सार्थकता है।



परमात्मा सर्वशक्तिमान हैं, उनका स्मरण करोगे तो कभी दुःख नहीं आ सकता

सुख की इच्छा से राजा, रईस, मिनिस्टर, गवर्नर आदि का सहारा ढूँढ़ते ही जो स्वयं परेशान रहते हैं और विशेष कुछ कर भी नहीं सकते। या तो अपने भाग्य पर विश्वास रखो और यदि किसी का सहारा चाहते हो, तो उसका सहारा लो जो सर्वशक्तिमान है, यदि किसी को प्रसन्न करना ही चाहते हो तो सर्वशक्तिमान परमात्मा को प्रसन्न करने का प्रयत्न करो, जिसके एक बार कृपा की दृष्टि फिर जाने से अयाच्य और निर्भय हो जाओगे। जिसने सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र आदि का बनाया है, जिसने पदार्थ के अणु-परमाणु अचिन्त्यशक्ति सम्पन्न बनाया है उस सर्वशक्तिमान

(70)

परमपिता परमात्मा का स्मरण करो तो कभी भी दुःख का अनुभव न होगा। मायापति भगवान् के अनुकूल हो जाने से माया के क्षेत्र की समस्त शक्तियाँ अपने अनुकूल बर्तने लगती हैं और भगवान् को अपने अनुकूल कर लेना कठिन नहीं है। केवल आस्तिक होकर अनन्यभाव से उनका स्मरण करो तो उनकी कृपा प्राप्त होगी और एक बार भगवान् की दृष्टि फिर जायेगी तो फिर लोक और परलोक में सर्वत्र आनन्द ही आनन्द रहेगा।



वैध उपाय अपनाओ तो सुख-शान्ति अवश्य मिलेगी

कोई ऐसा नहीं दिखलाई देता जौ सुख-शान्ति का इच्छुक न हो। इसके लिये सभी लोग अपनी बुद्धि के अनुसार प्रयत्न भी करते हैं फिर भी सुख-शान्ति मिलती नहीं है। उपाय करते हैं पर वैध उपाय नहीं करते। सफलता नहीं मिलने का यही कारण है। रात भर बालू को पेरिये पर एक बूँद भी तेल प्राप्त नहीं होगा। महीनों जल का मंथन करिये पर नवनीत नहीं निकलेगा।

जहाँ से जो वस्तु प्राप्त की जा सकती है वहीं पर वैध प्रयत्न करना चाहिये तभी सफलता मिलेगी।

सुख और शान्ति प्राप्त करने का कोई भौतिक उपाय नहीं आध्यात्मिक उपाय है। वासना की तृप्ति में सुखाभास भले ही हो पर स्थाई सुख नहीं होता। वस्तु के उपयोग में जितना सुख नहीं मिलता उसके अभाव में कई गुना अधिक दुःख भोगना पड़ता है। कारण यह है कि संसार के सभी पदार्थ नश्वर और वियोगान्त हैं। जिनका स्वयं का अस्तित्व क्षणिक है उनसे प्राप्त होने वाला सुख स्थाई कैसे हो सकता है ? फिर जिसका वियोग निश्चित है, ऐसी सभी वस्तुएँ अन्त में दुःख का हेतु बनेंगी। जैसे बिना माँगे ही सूर्य से प्रकाश और चन्द्रमा से शीलता प्राप्त होती है वैसे ही

(71)

बड़ी प्रसन्ना से वह कबीर के गुणगान गाते वहाँ से चला। जो मार्ग में मिले उससे यही कहें कि किसी प्रकार का कष्ट हो तो कबीर के यहाँ चले जाओ, ठीक हो जायेगा।

वहाँ कबीर आ रहे थे। वह उनको पहचानता तो था ही नहीं। उनसे भी यही कहा। उन्होंने पूछा क्या बात है ? उसने अपनी सारी कहानी कह सुनाई। कबीर ने कहा कि हम ही कबीर हैं, अब तुम किसी से ऐसा कहोगे तो तुमको फिर से कोढ़ हो जायेगा। इसलिये किसी से मत कहना कि कैसे अच्छे हुए।

कबीर घर पर आये और अपनी स्त्री से कहा कि तुमने भगवान के नाम को सस्ता बना दिया जो तीन बार राम कहलाने की क्या आवश्यकता थी ? यह तो एक बार में अच्छा हो जाता। मालूम पड़ता है कि तुमको एक बार में विश्वास नहीं हुआ तभी तीन बार कहलाया। इस तरह भगवान के नाम को हलका करना उचित नहीं। तात्पर्य यह कि यदि विश्वासपूर्वक सच्चे हृदय से यदि एक बार भी भगवान का नाम लोगे तो भवसागर को पार कर सकते हो और सांसारिक दुःख दरिद्रता का हटना तो साधारण बात है। निश्चय रखो कि भगवान का भक्त कभी दुःखी नहीं रह सकता। भगवान् का होकर फिर दुःखी रहे, यह हो ही नहीं सकता।



सुख-शान्ति तो ईश्वर की प्राप्ति से मिलेगी भौतिक सामग्री से नहीं

आज संसार के अधिकांश विचारशील लोग यही सोचते हैं कि अन्न-वस्त्र का अभाव दूर होने से विश्व की अशान्ति मिट जायेगी। अन्न-वस्त्र आवश्यक है उसका उत्पादन करो पर इतने भर से अशान्ति दूर नहीं हो सकती।

संसार में ऐसे लोग भी हैं जो 10 रुपये का एक ग्रास मिलने पर भी पेट भर भोजन करने का सामर्थ्य रखते हैं पर उन्हें भी शान्ति नहीं।

(76)

वैसे तो मनुष्य स्वतंत्र है, अपनी बुद्धि के अनुसार जो ठीक समझे वह कर ही सकता है—क्योंकि कर्त्ता स्वतंत्र होता है, वह उचित कार्य करके अपनी, अपने समाज की, देश की और विश्व की उन्नति कर सकता है और अनुचित कार्य करके स्वयं पतन के गर्त में गिर सकता है और अपने समाज और देश को भी कलंकित कर सकता है, किन्तु सिद्धान्त यही है कि उचितानुचित का यथार्थ निर्णय शास्त्र ही कर सकता है।

शास्त्रानुसारी उचित कार्यों से ही सर्वविध उन्नति होती है। यही भगवान् कृष्ण ने गीता में स्पष्ट कर दिया है—

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।

न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्।।

अर्थात् जो शास्त्रविधि का उल्लंघन करके अपनी इच्छा के अनुसार मनमानी कार्य करते हैं उनको न सिद्धि होती है न सुख ही मिलता है और न परमगति ही होती है।

इसलिये उचितानुचित और कर्त्तव्याकर्त्तव्य के स्वन्ध में शास्त्र को ही प्रमाण मानना चाहिये, इसी में कल्याण है।



धर्महीन शिक्षा से भारत का सर्वनाश हो रहा

श्री जगद्गुरु शंकराचार्य ज्योतिर्मठ का निदान

शिक्षा संस्थाओं के सूत्रधारों के हाथ में देशवासियों की सुख-शान्ति निर्भर है क्योंकि जैसी शिक्षा होगी वैसा ही देश का मस्तिष्क-निर्माण होगा। उन्हें चाहिये कि दूरदर्शिता से काम लें और धर्महीन शिक्षा द्वारा राष्ट्र के पतन का बीज न बोयें। धर्महीन शिक्षा ही भारत में होने वाले समस्त अनर्थों का मूल है। देश में अन्न, वस्त्र

(73)

का अभाव, भ्रष्टाचार और हर प्रकार की अशान्ति और असंतोष का मूल कारण धर्मभावना की कमी और अधर्म भावना की वृद्धि ही है और इसके मूल में धर्महीन शिक्षा ही प्रधान है।

आयुर्वेद के प्रणेता चरक और सुश्रुत का मत है कि देश में धर्म की भावना को प्रबलता रहने से प्रकृति साम्य स्थापित रहता है—प्रकृति में सत्व-रज-तम तीनों गुणों की साम्यता रहती है और जब अधर्म बढ़ता है तो प्रकृति वैषम्य अर्थात् तीनों गुण विषम अवस्था में हो जाते हैं और तम की प्रधानता होने से देश में कलह, विद्रोह, वैषम्य, अकाल और नाना प्रकार के दुःख एवं अशान्ति होती है। आजकल धर्मभाव घटता जा रहा है और इसका मूल कारण है अधार्मिक शिक्षा। धर्महीन शिक्षा द्वारा धर्मभाव घटने से भारत की सभ्यता, संस्कृति तो नष्ट हो ही रही है मनुष्यों का दृष्टिकोण अधिकाधिक भौतिकवादी होता जा रहा है और परिणाम में दुःख और अशान्ति की वृद्धि हो रही है।

शिक्षा संस्थाओं के सूत्रधारों के हाथ में देशवासियों की सुख-शान्ति निर्भर है। उन्हें चाहिये कि दूरदर्षिता से काम लें और धर्महीन शिक्षा द्वारा राष्ट्र के पतन का बीज न बोयें।



जगत का कूड़ा-करकट अपनाते हो ईश्वर को क्यों नहीं अपनाते ?

संसार में लोग अपने सुख के लिये सब कुछ करने को तैयार हैं, फिर भी कोई सुखी नहीं दिखाई देता। यदि किसी को कभी क्षणिक सुख मिला भी तो पीछे उसके भाव में, उसी का स्मरण करता हुआ, रोता रहता है। कोई स्त्री में सुख मानकर स्त्री से प्रेम करता है परन्तु वहाँ भी उसे सदैव सुख मिलता नहीं। रक्त-मांस, मल-मूत्र-

कफ से बने इस कूड़ा-करकट के ढेर में सुख का निवास नहीं है। सुख का स्थान तो आत्मा में है। जब तक उसे नहीं पहचानते व्यर्थ ही इधर-उधर फिरोगे।

जन्म भर जगत का चिन्तन करते रहो तो भी अन्त में पछताना ही पड़ेगा और एक बार अनन्य होकर भगवान् को भज लो जन्म-जन्म की दरिद्रता दूर हो जायेगी। जीवन में सुख-शान्ति का अनुभव होगा और यहाँ से चलकर भी आनन्द ही रहेगा। इसलिये जगत से मन को हटाओ और ईश्वर को अपनाओ।



रामनाम जपतां कुतो भयम्। सर्वताप शमनैक भेषजं ॥

राम नाम जपने वाले को भय कहाँ ?

यह तो समस्त दुःकों की एक औषधि है।

भगवान का भक्त अभय होता है जिसने विश्वनियन्ता परमपिता परमात्मा में अपने मन को लगा दिया फिर उसके लिये किसी प्रकार का भय नहीं रह जाता—विश्व का रक्षक जिसका रक्षक हो भला उसको कौन ताड़न कर सकता है। राम नाम रूपी अमृत जो पान कर रहा है उसको किसी प्रकार का कोई दुःख और व्याधि नहीं आ सकती। एक बार किसी मनुष्य को सर्वांग में कोढ़ हो गया। बड़ा दुःखी होकर वह चारों तरफ कुष्ठ हटाने के उपाय में भटकने लगा। किसी ने कहा कबीर के यहाँ जाओ वे भगवान के भक्त हैं, कृपा कर देंगे तो अच्छे हो जाओगे। वह कबीर के यहाँ गया, कबीर उस समय थे नहीं। उनकी पत्नी थीं। उसने कहा तीन बार राम कहो तो अच्छे हो जाओगे। उसने कहा हम दिन में हजारों बार राम-राम करते हैं कुछ नहीं होता। स्त्री ने कहा कि हमारे कहलाने से कहो। उसने कहा—राम, राम, राम। कहते ही उसके शरीर से कुष्ठ निकल गया।

ब्राह्मण और साधु ही समाज के मुख माने जाते हैं। सारा अंग स्वर्ण का हो जाय और मुख पर एक धब्बा (कुष्ठ) का रह जाय तो कोई उसे सुन्दर नहीं कहेगा।

मुख पहले स्वच्छ रहना चाहिये क्योंकि सामने वही आता है। इसलिये ब्राह्मणों और साधुओं को अपने धन से धनी होने का प्रयत्न करना चाहिये। तप करना चाहिये और दैवीशक्ति का सम्पादन करना चाहिये। कुछ हो या न हो पर कम से कम विश्वम्भर पर ही विश्वास करो या अपने भाग्य पर ही भरोसा रखो। कम से कम पेट के लिये तो दरवाजे दरवाजे धक्का खाते मत फिरो। इतनी हीनता उठाने से तो मर जाना अच्छा। स्मरण रखो कि तुम व्यास, वशिष्ठ, अत्रि, अंगरा आदि समर्थ त्रिकालज्ञ महर्षियों की सन्तान हो, अभी तक उन्हीं के नाम से तुम्हारे गोत्र चले आ रहे हैं—तो कम से कम उनकी तो इज्जत बचाओ। राजकुमार होकर दरवाजे दरवाजे धक्का खाये यह तो शोभा नहीं देता।

ब्राह्मण होकर, साधु होकर, भगवान के कहलाकर टुकड़ों के लिये धक्का खाना बड़ी भद्दी बात है। ब्राह्मणों, साधुओं का 'तृणमन्भन्यते जगत' होना चाहिये।

**लक्ष्मी समाविशतु,
गच्छतु वा यथेष्टम्।**

लक्ष्मी की हजार बार गरज हो तो आये नहीं तो चली जाये, हमें उसके लिये दीन नहीं होना है लक्ष्मीपति भगवान हमारे बने रहें और हमें कुछ नहीं चाहिये। यह वृत्ति ब्राह्मणों की होनी चाहिये। विचार से, धौर्यपूर्वक, अपने कर्तव्य के अनुकूल कार्य किया जाय तो लोक में भी सिर ऊँचा रहेगा और परलोक भी उत्तम बनेगा।

उल्टा को सूर्य न दिखे तो सूर्य का दोष नहीं

नास्तिक को परमात्मा न दिखे तो परमात्मा का अस्तित्व नहीं बिगड़ता।

(80)

अशान्तस्य कुतः सुखम्।

अशान्त मनुष्य को सुख नहीं मिल सकता। सुख तो ईश्वर को प्राप्त करने से मिल सकता है भौतिक सामग्रियों से नहीं।

**ऐसा धन संग्रह मत करो जिसके द्वारा जीवन में अशान्ति
और परलोक में नरक हो**

धर्मानुसारी अर्थ संग्रह ही कल्याणकारी होता है। ऐसा धन संग्रह करने का प्रयत्न करो जो कुछ साथ भी जाय। रुपया-पैसा तो यहीं पड़ा रह जायेगा। और रुपया-पैसा का संग्रह भी ऐसा करो कि जिससे उसके द्वारा तो नरक न हो। लोगों को विचार करना चाहिये कि उनका लक्ष्य क्या है? निश्चय है कि रुपया-पैसा संग्रह करना ही मनुष्य का लक्ष्य नहीं, मनुष्य का लक्ष्य तो सुख की प्राप्ति है। लौकिक सुख का साधन रुपया है। इसलिये उसका संग्रह किया जाता है। किन्तु रुपया का संग्रह इस प्रकार होना चाहिए कि उससे सुख-शान्ति की प्राप्ति हो सके। कहीं ऐसा न हो कि हमारा कमाया हुआ रुपया दुःख और अशान्तिप्रद हो जाये।

यह निश्चय है कि अधर्म, असत्य और अनाचार, दुराचार आदि अविहित उपायों के द्वारा कमाये हुए धन का परिणाम दुःख और अशान्ति ही होता है। जो धन सत्य और धर्म के आधार पर कमाया जाता है उसी के द्वारा सुख चाहते हो तो धनार्जन में सत्य और धर्म का आधार लो। विहित उपायों से धनार्जन करो वही सुख-शान्ति का साधन हो सकता है। ऐसा धन मत संग्रह करो जिसके परिणाम में इह लोक में नरक भोगना पड़े।

(77)

स्वधर्म का अवहेलना ही फैले हुए भ्रष्टाचार का कारण

जिस समय मनुष्य अपने धर्म-कर्म का महत्व भूल जाता है उसी समय उसे कर्तव्य और अकर्तव्य का बोध नहीं रह जाता। उस समय वह विचार नहीं करता कि क्या करना मेरे लिये उचित है और क्या अनुचित है। जब जैसा मन में आया तब तैसा करने में प्रवृत्त हो जाता है। अपनी वासनाओं की पूर्ति के लिये साधन जुटाने में इस प्रकार लगे हुए मनुष्य न्याय-अन्याय पर विचार नहीं करते और उसके फल की भी चिन्ता नहीं करते ऐसे ही लोगों के द्वारा समाज में अनाचार भ्रष्टाचार फैलता है। जब तक मनुष्य में धर्म बुद्धि रहती है तब तक तो वह पाप करने से डरता है और पुण्य करने की चेष्टा करता है परन्तु जब उसको धर्म का बोध ही नहीं है तब तो वह अपनी बुद्धि के ऊपर किसी का नियंत्रण नहीं मानता।

हमारे यहाँ भारत में वेद-शास्त्र का शासन ही प्रधान माना जाता था क्योंकि इसके अनुशासन में चलकर मनुष्य इहलोक और परलोक में पूर्णता की ओर आगे बढ़ता है। वेदशास्त्रानुसारी क्रियाकलाप के द्वारा मनुष्य अपना व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन सुख-शान्तिमय और उन्नतिशील बनाता हुआ इसी जीवन में पूर्णब्रह्म परमात्मा से एकत्व प्राप्त कर सकता है। इस प्रकार के सर्वकल्याणकारी वेदशास्त्र के अनुशासन को भूलकर मनुष्य इन्द्रियों का गुलाम होकर क्षणभंगुर विषय सुखों के लिये अनाचार भ्रष्टाचार आदि करता हुआ अपना भविष्य अन्धकार में बना रहा है। यही है अपने हाथों अपने मार्ग पर कंटक बोना। निश्चित है कि जब तक मनुष्य को स्वधर्म और उसके द्वारा सद्गति का बोध नहीं होगा तब तक लाख उपाय करने पर भी आज का फैलता हुआ भ्रष्टाचार नहीं रोका जा सकता।



सरकार आँखें खोले

शिक्षा के लिये जिम्मेदार सरकार को होना चाहिये कि धर्महीन शिक्षा के प्रारम्भिक कुपरिणामों को प्रत्यक्ष देखकर और उसकी भावी भयंकरता का अनुमान करके यथाशीघ्र शिक्षा पद्धति में धर्म शिक्षा अनिवार्य कर दे। दुराग्रह करके राष्ट्र के भविष्य को अंधकारमत्त मत बनाओ, विचार से काम लो अपनी जिम्मेदारी को ध्यान में रखो और ऐसा करो कि तुम्हारे कार्यों से भावी संतान को पछताना न पड़े।



जो अपने धन से धनहीन है वह मँगनी के धन से कितने दिन धनी रहेगा ?

ब्राह्मण का धन है तप, क्षत्रिय का धन है बाहुबल, वैश्य का धन है द्रव्य और शूद्र का धन है कला-कौशल में और सेवावृत्ति में निपुणता। यदि ब्राह्मण तप से हीन है तो वह अरब खरबपति हो जाय तो भी धनी नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार कोई वैश्य कंगाल है तो वह भी धनी नहीं कहा जा सकता। अपने धन से जो धनी है वही धनवान है और दूसरे के धन से मँगनी के धन से, कोई धनवान बनना चाहे तो वह रईसी कितने दिन चलेगी ?

आजकल धर्महीन शिक्षा होने के कारण प्रायः कर्तव्याकर्तव्य का ज्ञान ही नहीं रह गया है और इसलिये सारी व्यवस्था बिगड़ रही है। मनुष्य का दृष्टिकोण संकीर्ण हो गया है। ब्राह्मण तप का महत्व भूल गये हैं, जिसके कारण वे कौपीन रहते हुए भी महाप्रतापी चक्रवर्ती नरेन्द्रों को भी बनाने बिगाड़ने में समर्थ रहते थे। उस शक्ति संचय के साधन तप की ओर से उपेक्षा होने का ही फल है कि आज गली-गली सेठों का लड़का खिलाते ठोकरें खाते फिर रहे हैं।

मनुष्य का मन जब ज्ञान और भक्ति की गरमी से सेंक पिया जा जाता है तो फिर उसमें जन्म मरण का अंकुर नहीं होता। इसलिये भक्तिमान और ज्ञानवान बनने का प्रयत्न करो। परन्तु ऐसे ज्ञानी न बनो कि धन, स्त्री, और पुत्रादि संसार में प्रेम तो बना रहे और शिवोऽहं शिवोऽहं या ऊँ ऊँ और अहं ब्रह्मास्मि कहने लगे क्योंकि वाचानिक ज्ञान से लाभ के बदले हानि ही होती है। लोग जब अपने को ब्रह्म कहने लगते हैं तो फिर धर्म कर्म से भी दूर हट जाते हैं और उधर निष्ठा पुष्ट होती नहीं। इसलिये जब तक संसारी वस्तुओं से प्रेम नहीं हटा है तब तक ब्रह्म के फेर में न पड़ के भगवान की भक्ति करनी चाहिये। भक्ति करते करते जब भगवान में अतिशय राग हो जायेगा तो फिर जन्म के चक्कर से छूट जाओगे।



सरकार की सब बातें मानो परन्तु धर्म विरुद्ध बातें मत मान

धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः।

जो धर्म की उपेक्षा करता है वह धर्म की अजेय शक्ति के द्वारा नाश को प्राप्त होता है और जो अपने आचरण द्वारा धर्म की प्रतिष्ठा करता है उसकी धर्म के द्वारा सर्वरूप से रक्षा होती है। यह प्रकृति का वह सनातन नियम है जो कभी भी बदलता नहीं और न जिसको न कोई कभी झूठा कर सकता है। इसलिये राष्ट्र के सर्वाधिक कल्याण की दृष्टि से, अपनी सरकार की सब बातें मानो परन्तु धर्म विरुद्ध बातें मत मानो।

इसका यह अर्थ नहीं कि हम सरकार का विरोध करते हैं या उसका अमंगल चाहते हैं। राष्ट्र तो हमारा है। जहाँ तक राष्ट्र की उन्नति का पश्न है हम सर्वथा सहमत हैं परन्तु यदि सरकार धर्म का विरोध करने में राष्ट्र का हित मानती है तो इतने

नेत्रहीन को सामग्री न दिखे तो इसका यह अर्थ नहीं कि वस्तु अभाव है। किसी को ईश्वर का साक्षात्कार न हो तो उसके खण्डन करने से परमात्मा का खण्डन नहीं हो सकता। बेना से पहाड़ नहीं उड़ सकता। किसी निरक्षर मूर्ख के पास वेद-शास्त्र रख दिया जाय और वह न पढ़ सके तो क्या इसका यह अर्थ हो सकता है कि वेद-शास्त्र में कुछ लिखा ही नहीं है ? यदि किसी को परमात्मा न दिखे तो क्या इसका अर्थ नहीं कि परमात्मा नहीं है।

परमात्मा को प्रकट करने के उपायों के संबंध में स्मरणीय है कि अधिकारी को ही वस्तु की प्राप्ति होती है। किसी बिना पढ़े लिखे को जिलाधीश का पद नहीं दिया जाता। जो जिस वस्तु का अधिकारी होता है उसे ही वस्तु की प्राप्ति होती है। इसलिये यदि सर्वशक्तिमान भगवान को प्रकट करना चाहते हो तो अधिकार प्राप्त करो। भगवान को प्राप्त करने के लिये अधिकार की सामग्री है दैवी सम्पत्ति के लक्षण और आस्तिकता का होना। दैवी सम्पत्तिवान होकर, श्रद्धा विश्वास के साथ गुरुपदिष्ट मार्ग द्वारा, धैर्यपूर्वक उपासना करो तो निश्चय ही परमात्मा को प्रकट कर लोगे। ढाल बनाओ, पानी तो बहकर आ ही जायेगा।



मनमानी कर तो सकते हो—परन्तु किये का मनमाना फल नहीं ले सकते

कर्म का जो फल होगा वह भोगना ही पड़ेगा।

मनुष्य कर्म करने में तो स्वतंत्र है परन्तु फल भोगने में परतंत्र है। चोर यदि चाहे तो चोरी करे और चाहे तो न करे परन्तु चोरी कर लेने पर उसका फल वह अपनी इच्छानुसार नहीं भोग सकता। फल भोगने के लिये तो उसे न्यायालय के अधीन ही रहना होगा। न्यायाधीश जो फैसला करेगा उसी के अनुसार उसे दण्ड भोगना पड़ेगा।

शास्त्रों में मनुष्य के लिये स्पष्ट आज्ञायें दी हैं कि वह यह करो, यह न करो। इसी से मालूम होता है कि मनुष्य कर्म करने में स्वतंत्र है। वह सब प्रकार के कर्म कर सकता है। इसलिये शास्त्र का आदेश है कि कहीं मनुष्य ऐसे कर्म न करे जिसके परिणाम में दुःख भोगना पड़े। मनुष्य पाप करके दुःख का भागी न बने यही शास्त्र की उपयोगिता है।

यदि मनुष्य कर्म करने में स्वतंत्र न हो तो कर्तव्य विधेयक शास्त्र ही व्यर्थ हो जाय क्योंकि जो कार्य करने में समर्थ होता है उसी को आज्ञा दी जाती है। अपने मरे हुए नौकर से कोई नहीं कहता कि एक गिलास जल पिला दो क्योंकि जानता है कि वह उठकर जल नहीं ला सकता। इसी प्रकार जो कर्म करने में समर्थ होता है उसी को आज्ञा दी जाती है।

सिद्धान्त यही निकलता है कि नवीन कर्म करने में मनुष्य स्वतंत्र है और जो कुछ वह पूर्व जन्मों में या इस जन्म में पहले कर चुका है, उन कर्मों के फल भोगने में परतंत्र है। उन कर्मों का जो फल परमात्मा देगा वह उसको भोगना ही पड़ेगा।

अब हम कर्म करने में स्वतंत्र हैं तो फिर शुभ कर्म ही करना चाहिये। शुभ कर्म अधिक बढ़ जायेगा तो मलिन वासनायें भी क्षीण पड़ जायेंगी फिर और अधिक शुभ कार्य होंगे। इसलिये ऐसा सोचना चाहिए कि जो ईश्वर करता है वही हम करते हैं।

कादर मन कर एक अधारा।

दैव-दैव आलसी पुकारा।।

[मानस]

पुरुषार्थहीन लोग कर्म करने के लिए भी ईश्वर को प्रेरक मानते हैं। प्रारब्ध काम करता है परन्तु प्रारब्ध के सहयोग की एक सीमा है। प्रारब्ध यहाँ तक कर सकता

(82)

है कोई घास लाकर मुख में डाल दें। मुख में पड़ा हुआ घास भी जब तक चबाकर निगला न जायेगा तब तक बेकार है। इसीलिये बिना पुरुषार्थ के प्रारब्ध भी नहीं भोगा जा सकता। अतः विहित पुरुषार्थ करो। अधिकार-अनाधिकार के संबंध में विचार पूर्वक कार्य करो और ऐसे ही कार्य करो जिनका फल भोगने में कष्ट न हो।



जीना उन्हीं का सार्थक है जो जीकर कुछ

आगे के लिये बनायें

संसारी लोग जितनी चेष्टा धनवान, पुत्रवान, प्रतिष्ठावान बनने के लिये करते रहते हैं उतना प्रयत्न भक्ति-भाव और ज्ञानवान बनने का नहीं करते। जो परम सुख का साधन है, उसकी उपेक्षा करके दुःख के साधनों का संग्रह करते हैं। किसी भी संसारी वस्तु से कोई कभी सुखी नहीं हो सकता। संसारी वस्तुओं से सुख प्राप्ति की इच्छा उसी प्रकार है जैसे बन्ध्या के पुत्र के विवाह की तैयारी बन्ध्या का पुत्र ही नहीं है तो उसका विवाह क्या होगा ? धन, स्त्री, पुत्रादि सांसारिक वस्तुओं में सुख जब है ही नहीं तो इनसे सुख मिलेगा कैसे ? परन्तु अविवेक से अनिष्ट में इष्ट बुद्धि कर ली गई है।

जीना उन्हीं का सार्थक है जो जीकर कुछ आगे के लिये बनाना चाहते हैं। यदि झोली भरना और खाली करना इतना ही है तो मनुष्य जीवन निरर्थक ही जा रहा है ऐसा मानो। उदर (पेट) की झोली सबेरे भरो, शाम को खाली करो, यदि इतना ही करके हुए जीना है तो जीना व्यर्थ ही है। इसलिये जीने की इच्छा रखो कि अभी भगवान का दर्शन नहीं हुआ है उसी के लिये साधन करने के लिये जीना है।

बीज जब सेंक दिया जाता है तो फिर उसमें अंकुर नहीं निकलता। इसी प्रकार

(83)

यह चिन्ता का विषय है। आचरण में उच्छृंखलता इसलिये है कि कर्तव्याकर्तव्य का बोध नहीं है। इन्द्रियाँ मनुष्य को सदा विषयों की ओर खींचती हैं। कर्तव्याकर्तव्य का विवेक नहीं रहने के कारण मनुष्य उच्छृंखल होकर मर्यादाओं का उल्लंघन करने लगता है और अनुशासन, सदाचार और संयम लोप होने लगते हैं। इस स्थिति का मुख्य कारण धार्मिक शिक्षा का अभाव है। विदेशियों के शासन से धार्मिक शिक्षा की परंपरा नष्ट हो गई। अतः धीरे-धीरे लोग धर्म के स्वरूप को भूल गये और संस्कृति से ही इतनी अनभिज्ञता हो गई कि शब्दार्थ भी लोग नहीं जानते। अब देश स्वतंत्र हो गया है। शिक्षा ऐसी होनी चाहिए कि प्रारंभ से ही बच्चों पर धार्मिकता के संस्कार पड़े। धर्म का नाम सुनकर डरने की आवश्यकता नहीं। वास्तव में ऐसी शिक्षा किसी भी स्वतंत्र देश के लिए कलंक है जिससे बालकों को अपनी संस्कृति और धर्म का भी बोध न हो।



आदर्श बनकर अपने आदर्श चरित्र से दूसरों को प्रभावित करो

समाज और राष्ट्र को उज्ज्वल और प्रभावशाली बनाने के लिये सबसे पहला काम है कि प्रत्येक मनुष्य अपना आचरण ऐसा बनाये कि बिना कहे सुने ही दूसरे उसके चरित्र से प्रभावित हों। मौखिक उपदेश उतना प्रभावशाली और स्थायी नहीं होता जितना चरित्र का आदर्श। इसलिये चरित्रवान बनो।

इस समय समाज में नैतिक अधःपतन का अनुभव तो सभी कर रहे हैं और अपने-अपने ढंग से सभी सुधार के लिये चिन्तित हैं। जो अपने को सेक्युलारिस्ट (धर्मनिरपेक्ष) कहते हैं वे भी लोगों को आचरणवान बनने का उपदेश करते हैं। परन्तु केवल मौखिक उपदेश से आचरण का आदर्श अधिक स्थायी महत्व रखता है। चारित्रिक आदर्श सामने होने से वातावरण पर असर पड़ता है। संत महात्माओं के सत्संग में लोगों को ऐसा वातावरण प्राप्त होता है जिसमें उन्हें स्वमेव आचरण

अंशों में हम उससे सहमत नहीं हैं। हमारा तो यही कहना है कि धार्मिक प्रज्ञा ही शासन सत्ता को उचित रीति से मानती है।

जो लोग धर्म को हौआ समझते हैं उन्हें धर्म का ज्ञान ही नहीं है। धर्म राष्ट्र का घातक नहीं पोषक है।



समाज में अपराधों की वृद्धि के लिये धर्म विरोधी ही जिम्मेदार

हिन्दू धर्म की व्याख्या, थोड़े शब्दों में, यही है कि यह समाज के सभी लोगों की जीवन यात्रा नियंत्रित रखते हुए सर्वांगीण उन्नति कराता है। सभी के लिये उनकी स्थिति के अनुसार, मर्यादा निश्चित है। धर्म मर्यादा का पालन करने से अपनी सर्वांगीण उन्नति होती है। उन्नति और कल्याण के लिये चिन्ता नहीं करनी पड़ती। जैसे सूर्य के उदय होने से निश्चित ही प्रकाश मिलता है वैसे ही धर्म पालन से सुख-शान्ति अवश्य मिलती है।

जो लोग धर्म का विरोध करते हैं उनसे मैं पूछता हूँ कि क्या ये मर्यादित जीवन पसंद नहीं करते? मर्यादा नष्ट होने से उच्छृंखलता बढ़ती है और उच्छृंखलता बढ़ने से अपराधों की वृद्धि होती है। समाज में अपराधों की वृद्धि के लिये धर्म विरोधी लोग ही जिम्मेदार है। धर्म का आदेश है कि—

मातृवत् परदारेषु परद्रव्येषु लोष्ट्रवत्।

आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति स पश्यति।।

अर्थात् दूसरे की स्त्री को माता के समान दूसरे के धन को मिट्टी के समान और समस्त प्राणियों को अपने ही समान जो देखता है वही यथार्थ में ठीक (सत्य) देखता है। मैं पूछता हूँ कि संसार यदि इन आदर्शों का पालन करे तो कौन सी हानि होगी? यही तो होगा कि कामिनी कांचन के लिये मूर्खतापूर्ण अहंमन्यता के कारण

होने वाले अपराध बंद हो जावेंगे। क्या धर्म के विरोधी यह चाहते हैं कि इन अपराधों में वृद्धि हो ?

धर्म का खण्डन भी करो तो पहले उसके स्वरूप को समझ लो और विचार कर लो कि इन बातों के पालन करने से क्या फल होगा? बिना समझे खण्डन करना असभ्यता भी है।

आप लोग इतनी बड़ी संख्या में उपदेश सुनने आते हैं इससे जान पड़ता है कि लोग धर्म की आवश्यकता तो अनुभव करते ही हैं। मुख्य बात यह है कि आप लोग जो श्रवण करते हैं उसका पालन करिये अज्ञानवश अब तक जो पाप हुए हों उनका पश्चाताप करो और प्रतिज्ञा करो कि अब आगे कोई पाप नहीं करेंगे। आचार्य का काम सुझाव देना है उससे लाभ उठाना या न उठाना आपके हाथ में है।



स्वधर्म की उपेक्षा से ही विश्व में सर्वत्र अशान्ति

स्वधर्माचरण से ही शान्ति सम्भव

कोई रोग हो जाय तो जब तक उसके कारणों का निदान न किया जायेगा और जब तक उन कारणों को हटाया जायेगा तब तक वह रोग अच्छा नहीं हो सकता। वर्तमान व्यापक दुःख एवं अशान्ति का मुख्य कारण है कि लोगों ने स्वधर्म की अवहेलना कर दी है। जो लोग स्वधर्म पालन कर रहे हैं वे अपने धर्म कर्म में लगे हुए आज भी संतुष्ट एवं शान्त हैं। स्वधर्माचरण ही समस्त सुख शान्ति का आधार है। धर्म की अवहेलना करके कभी भी कोई शान्ति संतोष का अनुभव नहीं कर सकता और अशान्तस्य कुतः सुखम्।

शान्ति संतोष का मार्ग भगवान ने गीता में स्पष्ट दिया है कि—

स्व स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।

(86)

अर्थात् अपने अधिकारानुसार वेद शास्त्रोक्त कर्मानुष्ठान करता हुआ ही मनुष्य सिद्धि का प्राप्त होता है। इस बात को और भी भगवान् ने कहा है—

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते काम कारतः।

न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥

जो शास्त्र विधान को छोड़कर, अपनी इच्छा के अनुसार कार्य करते हैं उनको न सिद्धि मिलती है न लौकिक सुख प्राप्त होता है और न परम गति ही प्राप्त होती है। इसलिये—

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यवस्थितौ।

ज्ञात्वा शास्त्रविधानलोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि॥

कर्तव्य और अकर्तव्य के लिये शास्त्र को ही प्रमाण अर्थात् निर्णायक मानना चाहिए और शास्त्रों में बताये हुए विधानों के अनुसार ही कर्म करने चाहिये।



बालकों को अपनी संस्कृति का बोध न हो ऐसी शिक्षा

स्वतंत्र देश के लिये कलंक है

जब बालकों को अपने धर्म का और अपनी संस्कृति का ही बोध न होगा तो वे जीवन में उचितानुचित का विचार कैसे कर सकेंगे ? शिक्षा का एक मात्र उद्देश्य यही है कि मस्तिष्क का ऐसा विकास हो जाये कि कर्तव्याकर्तव्य का विचार किया जा सके और कर्तव्य पालन एवं अकर्तव्य वर्जन के लिये क्षमता प्राप्त हो। यदि यह नहीं हुआ तो ऐसी शिक्षा पाकर भी मनुष्य अपने जीवन में सुख शान्ति का अनुभव नहीं कर सकेगा। कर्तव्य पालन ही सुख शान्ति का मार्ग है और अकर्तव्य वर्जन ही एक उपाय है जिससे दुःख और अशान्ति का बीज जमने नहीं पाता।

आज देश के नवयुवकों में ही नहीं प्रौढ़ों तक में उच्छृंखलता देखी जाती है।

(87)

होने लगता है। इस स्थिति का मुख्य कारण धार्मिक शिक्षा का अभाव है। प्रारंभ से ही बालकों पर धार्मिकता के संस्कार पड़े ऐसी शिक्षा होनी चाहिये। धर्म का नाम सुनकर डरने की आवश्यकता नहीं। धर्म का सरल अर्थ है कि ऐसा आचरण अपनाना कि जिससे सबका कल्याण हो।



जो भाग्य में है वह आयेगा अवश्य और उसे भोगना ही पड़ेगा

इसलिये सम्पत्ति विपत्ति जो जब आये धैर्यपूर्वक भोगते चलो। मनुष्य निष्क्रिय होकर कभी बैठ नहीं सकता। मन, बुद्धि, प्राण तथा इन्द्रियों के द्वारा कुछ न कुछ चेष्टा करते रहना मनुष्य का स्वभाव है अपने अपने संस्कारानुसार प्रत्येक मनुष्य स्वभावतः ही कार्य में प्रवृत्त होता है। इसी सिद्धान्त को लेकर भगवान् कृष्ण ने अर्जुन से कहा था कि—

यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे।

मित्यषव्यवसायस्त प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति।।

अतः क्रिया में प्रवृत्ति होना स्वाभाविक है और सिद्धान्त यह है कि जैसा कर्म होगा वैसा फल कर्म करने वाले को अवश्यमेव भुगतना पड़ेगा। अल्प समय में किये हुए कर्म का फल चिरकाल तक भोगना पड़ता है। अतः एक जन्म में किये हुये सम्पूर्ण कर्मों का फल दूसरे जन्म में भोगकर समाप्त नहीं किया जा सकता। बिना भोगे कर्मों की राशि संचित होती जाती है। जब तक यह कर्मों की राशि समाप्त नहीं हो जाती तब तक जीव को पुनः पुनः गर्भ में आना ही पड़ेगा। अतः मनुष्य जीवन पाकर इस कर्म राशि को समाप्त करना चाहिये।

शास्त्रों ने कर्मों के तीन विभाग कर तीनों को समाप्त करने के उपाय बतलाये

सुधारने की प्रेरणा मिलती है परन्तु कठिनाई यह है कि लोग एक घण्टे सत्संग करेंगे और 12 घण्टे गन्दे लोगों के साथ रहकर सत्संग का लाभ खो देते हैं। समाज में आदर्श चरित्रवानों की संख्या बढ़नी चाहिये तभी वातावरण बदल सकता है। इसके लिये सबसे पहले अपना आदर्श रखना आवश्यक है।



जितोन्द्रिय होकर ही अपने को और दूसरों को सुख-शान्ति पहुँचा सकते हो

वर्तमान शिक्षा प्रणाली में आमूल-चूल परिवर्तन आवश्यक

इस समय आत्मबलशून्य युवकों की संख्या बढ़ रही है। ब्रह्मचर्य पालन और सत्संग करना जरूरी।

जगत के सभी वर्ग के लोग दुःखी दिखाई देते हैं। जिन्हें अन्न वस्त्र का अभाव नहीं है, वे भी गरीबों से कम दुःखी नहीं हैं। इसका कारण यही जान पड़ता है कि लोग स्वधर्मपालन से च्युत हो गये हैं। सिद्धान्त हैं कि धर्म करने से सुख होता है और अधर्म से दुःख। हिन्दू धर्म, सदाचार और मर्यादा पालन की नींव पर अवस्थित है। अतः भारतवर्ष में धर्म की उपेक्षा का अर्थ उच्छृंखलता को बढ़ावा देना है। उच्छृंखल व्यक्ति सुखी नहीं हो सकता क्योंकि असंयमित जीवन होने से जीवनशक्ति का हास शीघ्रता से होने लगता है।

शिक्षा के बारे में बोलते हुये श्री जगद्गुरु ने कहा कि विदेशियों ने हमारे देश में जिस शिक्षा प्रणाली को चलाया है, वह न केवल हमारी संस्कृति को छिन्न विच्छिन्न करती है अपितु निकम्मे एवं आत्मबल शून्य नवयुवकों की संख्या बढ़ाने वाली है। विद्यार्थी वर्ग में बढ़ने वाला भ्रष्टाचार तथा उच्छृंखलता देश के लिये चिन्ता का विषय है। ऐसा देखा जाता है कि देश के कतिपय बुद्धिमान लोग भी सहशिक्षा को

प्रोत्साहन दे रहे हैं, परन्तु यह पतन का रास्ता है। युवक और युवतियों का सम्पर्क होने से दोनों की बुद्धि में प्रमाद उत्पन्न होना अत्यंत स्वाभाविक है। संसर्ग से ही बुद्धि बनती और बिगड़ती है। अतः यदि कामुकता और इन्द्रिय लोलुपता की वृद्धि करना ही राष्ट्र के कर्णधारों का उद्देश्य नहीं है तो वर्तमान शिक्षा पद्धति में आमूल परिवर्तन आवश्यक है।

तीन प्रकार के दुःख होते हैं। शारीरिक व्याधियाँ और रोग आदि आध्यात्मिक ताप, अति वृष्टि, अनावृष्टि, अकाल, भूकम्प आदि आधिदैविक ताप तथा एक जीव के द्वारा दूसरे जीव को होने वाले दुःख आधिभौतिक ताप कहलाते हैं। इन्हीं प्रधान तीनों तापों की अनन्त शाखायें हैं, यदि मनुष्य विचार से काम ले तो इनमें से अनेकों दुःखों से सहज में निवृत्त हो सकते हैं। जिन्हें दूर करना उसकी सामर्थ्य से बाहर है, उनके लिये उसे भगवान् से प्रार्थना करनी चाहिये। भक्ति भावपूर्वक भगवान का भजन करते रहने से दरिद्रता, मृत्यु और संसार के सारे दुःख अवश्यमेव दूर हो सकते हैं।

इस सिद्धान्त में संदेह के लिये स्थान नहीं। संत महात्माओं के सत्संग से विपत्ति भी सम्पत्ति, मृत्यु भी उत्सव और जंगल भी मंगलमय हो जाता है। मोह और अज्ञान का नाश केवल सत्संग से ही सम्भव है। अतः सुख चाहने वाले को अत्यन्त विपरीत अवस्था में भी सत्संग नहीं छोड़ना चाहिये।

ब्रह्मचर्य तथा सदाचारपालन स्त्री, पुरुष, बालक, युवा, प्रौढ़ तथा सभी आश्रमों के व्यक्तियों को करना चाहिये। जितेन्द्रिय पुरुषों के द्वारा ही हमारी संस्कृति फूली फली है और पुनः जितेन्द्रिय होकर हम संसार को सुख शान्ति का मार्ग दिखा सकते हैं।



समाज का नैतिक अधःपतन रोकना है तो धार्मिकता को अपनाना होगा

धर्म का नाम सुनकर डरने की आवश्यकता नहीं

सदाचारपूर्वक धर्माचरण करने से हम अपने लौकिक जीवन को सुखी बना सकते हैं और परलोक तो बनता ही है। कोई ईश्वर के अस्तित्व को न माने तो ना माने परन्तु यदि संसार में सुख शान्ति का साम्राज्य देखना चाहता है तो उसे अपने समान ही दूसरों को मानना होगा और इसके लिये अपने को कर्तव्याकर्तव्य निर्धारिणी मर्यादा में चलना होगा। यह तभी हो सकता है जब स्वधर्म पर आचरण किया जाय। शास्त्र मर्यादा के विपरीत आचरण करके यह स्थिति प्राप्त नहीं की जा सकती। इस प्रकार शास्त्र मर्यादित धार्मिक सिद्धान्तों का पालन सभी के लिये अनिवार्य हो जाता है।

वर्तमान समय में नैतिक अधःपतन का अनुभव तो सभी करते हैं और अपने अपने ढंग से परिस्थिति को सभी सुधारना चाहते हैं। जो अपने को 'सेक्युलरिस्ट' कहते हैं वह भी लोगों को आचरणवान बनने को कहते हैं परन्तु किसी को आचरणवान बनने को कहना और सदाचरण बनाने का मूल जो धर्मशास्त्र है उसको न मानना प्रकाश को अन्धकार से ढूँढ़ने का प्रयत्न करना है।

समाज का नैतिक अधःपतन तभी रोका जा सकता है जब लोगों में धार्मिकता का अंकुर जम जाय। आज देश के नवयुवकों में ही नहीं प्रौढ़ों तक में उच्छृंखलता देखी जाती है। यह चिन्ता का विषय है। उच्छृंखलता आने पर मनुष्य हर प्रकार से मर्यादा का उल्लंघन करने लगता है और अनुशासन, सदाचार तथा संयम का लोप

भक्तियोग कल्याण का सुगम पथ है

इसी के प्रसार के लिये भगवान अवतार लेकर अपनी लीलाओं का विस्तार करते हैं। गीता में भगवान ने स्वयं अपने अवतार का हेतु यह बतलाया है कि जब धर्म नष्ट होने लगता है तो उसका अभ्युदय करने के लिये, सज्जनों की रक्षा तथा दुष्टों का संहार एवं धर्म की पुनः संस्थापना करने के लिये मैं युग-युग में अवतरित होता हूँ। प्रश्न हो सकता है कि भगवान तो सर्वशक्तिमान हैं उनकी इच्छा मात्र से सारी सृष्टि का प्रलय हो सकता है तब क्या बिना अवतार लिये वह धर्म की रक्षा और दुष्टों का संहार नहीं कर सकते ? इसका उत्तर यह है कि अवतार धारण कर धर्म तथा धार्मिक जनों के उद्धार के लिये भगवान जो लीलायें करते हैं अपने यश का जो विस्तार करते हैं उसका गान करते हुए भक्तजन मुक्त हो जाते हैं। ज्ञान योग तो अत्यंत कठिन है। सहस्रों में कोई बिरला ही उसका अधिकारी है। यदि भगवान अवतार धारणकर साकार रूप में न आते तो भक्तियोग का प्रचार कैसे होता ?

प्रश्न है कि साकार रूप में आने पर क्या भगवान को भी उन उन योनियों के सुख-दुःख भोगने पडते हैं जैसा कि सीताजी के वियोग में रामचन्द्रजी की दशा से विदित होता है ? इसका उत्तर महाराज जी ने देते हुये कहा कि ऐसा नहीं होता। भगवान अपनी योगमाया से शरीर धारण करते हैं। जैसे नर नाना प्रकार के स्वरूप बनाकर उन्हीं के अनुरूप कार्य करने लगता है। परन्तु उनके गुणों से अप्रभावित रहता है वैसे ही भगवान भी लीला मात्र करते हैं।



जब तक वासनाओं का दमन नहीं होगा तब तक बाहरी

स्वतंत्रता से शान्ति संतोष नहीं हो सकता

मनुष्य अपनी वासनाओं का गुलाम बन गया है। जब तक वासनाओं का दमन

(96)

हैं। सञ्चित, प्रारब्ध और क्रियमाण यह कर्म के तीन विभाग हैं। सञ्चित कर्म अनन्त हैं। वे भोगकर समाप्त नहीं किये जा सकते उनको समाप्त करने का उपाय या तो ज्ञान की प्राप्ति है अथवा भगवान के चरणों में अनन्य भक्ति। प्रारब्ध कर्म भोगने से ही नष्ट होंगे अन्य कोई उपाय नहीं। अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभं। क्रियमाण कर्म भगवान को अर्पण कर देने से बंधन के हेतु नहीं होते। गीता मे कहा है—

यत्करोषि यदश्रासि यज्जुहोषि ददासि यत्।

यत्तपस्यसि कौन्तेय यत्कुरुष्व मदर्पणम्॥

इस प्रकार सञ्चित कर्म ज्ञानाग्नि से दग्ध करके, प्रारब्ध कर्म भोगकर और क्रियमाण कर्म भगवान को समर्पण करके कर्म बन्धन से मुक्त हो जाने को मोक्ष कहते हैं।

कर्म सिद्धान्त का निरूपण करते हुए आचार्यश्री ने कहा कि यदि साधनहीन होने के कारण ज्ञान की प्राप्ति में देर है तो कम से कम क्रियमाण कर्म तो भगवान को अर्पित करते जाओ। ऐसा करने से इस जन्म के कर्म बन्धन के हेतु नहीं बनेंगे। साथ ही यह विचार भी पुष्ट कर लो कि प्रारब्ध भोग तो भोगना ही पड़ेगा। ज्ञानी भी इससे बच नहीं सकता। अतः प्रारब्ध वश आये हुये दुःखों को वीरतापूर्वक सहन करो। आपत्तिकाल में भी धैर्य को मत छोड़ो। इसी प्रकार सुख की प्राप्ति होने पर प्रमादी मत बनो। ऐसा करने पर पुण्य का संयम होगा और लोक परलोक दोनों बनेंगे।



वासनाओं को पूरा करने के पीछे मत पड़ो

शरीर यात्रा के लिये आवश्यक कर्मों को करते हुए मुख्य ध्यान परमात्मा की पाप्ति में रखो। भगवान विष्णु जिनके पुत्र रूप में आये और देवराज इन्द्र जिन्हें

(93)

अपना आधा सिंहासन देता था ऐसे समर्थ शक्तिशाली चक्रवर्ती नरेन्द्र दशरथ भी जब अपनी सारी वासनायें पूरी न कर सके। राम के राज्याभिषेक की वासना लिये हुए बैल के समान, चरण पीट-पीटकर उनकी मृत्यु हुई। जब इस प्रकार सामर्थ्यशाली पुरुषों की ही सब आशायें और वासनायें पूरी नहीं हुईं तब आप लोग अपनी सम्पूर्ण इच्छाओं को तृप्त कर लेने की आशा, स्वप्न में भी मत रखिये जाग्रत अवस्था की तो बात ही क्या ?

परमार्थ और व्यवहार दोनों साथ-साथ ही चलते हैं, क्योंकि स्वरूप से कर्मों का त्याग नहीं किया जा सकता। कर्मों का त्याग करने पर मनुष्य की शरीर यात्रा भी सम्भव नहीं हो सकती परन्तु इतना ध्यान अवश्य रखना चाहिये कि शरीर यात्रा के लिये, आवश्यक कर्मों को छोड़कर, शेष वासनाओं को पूरा करने के पीछे न पड़ जाओ। संसार में बड़े से बड़े शक्तिशाली हुए परन्तु उनकी भी सम्पूर्ण वासनायें पूर्ण न हो सकीं। इसलिये शरीर यात्रा के लिये आवश्यक कर्मों को करते हुए मुख्य ध्यान परमात्मा की प्राप्ति में लगाओ।

विषयों को भोगकर इन्द्रियों को तृप्त करने की बात सोचना ऐसा ही है जैसे खुजलाकर खाज को अच्छा करने की आशा करना। संसार के व्यवहार उलझे हुए कच्चे सूत के समान हैं जितना सुलझाने की चेष्टा करोगे उतने ही उलझेंगे, इसलिये बुद्धिमानीपूर्वक संसार का व्यवहार चलाते हुए मुख्य बुद्धि परमार्थ में ही लगाना चाहिये।



भगवान को अकर्मण्यता पसन्द नहीं उनका स्मरण करते हुए स्वधर्म का पालन करो

गीता में कर्म, उपासना और ज्ञान तीनों का सम्पक् विवेचन किया है परन्तु उपदेश का परिणाम क्या निकला कि अर्जुन ने युद्ध किया। युद्ध करना अर्जुन का वर्ण धर्म था। इससे जान पड़ता है कि चाहे ज्ञानी हो चाहे भक्त और चाहे कर्मकाण्डी वर्णाश्रम धर्म का पालन सबको करना चाहिये। गीता का उदाहरण इसलिये लिया कि गीता का प्रचार अधिक है और इसे लोग आसानी से समझ सकते हैं। गीता सब उपनिषदों का सार तथा सर्व शास्त्रमयी है। अब वैदिक धर्मावलम्बी गीता को बिना हिचक के अपना मार्गदर्शक बना सकते हैं।

काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद तथा मत्सर इन छः शत्रुओं को विजय करने की आवश्यकता गृहस्थों को अधिक है क्योंकि उन्हीं के सम्मुख इनके निमित्त अधिक आते हैं। विरक्त तो वैसे ही संसार से अलग है।

कर्मठ बनने की सलाह देते हुए महाराजश्री ने कहा कि भगवान को अकर्मण्यता पसन्द नहीं अपने अत्यंत प्रिय सखा अर्जुन को भी अकर्मण्य होते देखकर उन्होंने क्लीव अर्थात् नपुंसक कहकर उसकी भर्त्सना की।

‘तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युद्ध च।’

कहकर उन्होंने यही सलाह दी कि हर समय मेरा ही स्मरण करते हुये युद्ध करो अर्थात् अपना धर्म पालन करो। सदैव भगवान का स्मरण करे वाला कभी अधर्म नहीं कर सकता और मुख्य बात तो यह है कि यदि सर्वदा भगवान को ही स्मरण करने का स्वभाव बन गया तो अन्तकाल उनका स्मरण कर मुक्त हो जाओगे।



कि—‘यदस्मदीयं नहि तत्परेषाम्’ अर्थात् जो हमारा है वह दूसरे का नहीं हो सकता। जो अपने भाग्य (प्रारब्ध) में है वह अपने पास अवश्य आयेगा उसे कोई रोक नहीं सकता। ऐसी धारणा बनाकर, जगत के लौकिक कार्यों के लिये, अधिक व्यस्त न रहते हुये सामान्य लगाव से व्यवहार करते रहो और मुख्य लगाव परमात्मा में रखो। ऐसा करने से जीवन में शान्ति का अनुभव होगा और आगे का मार्ग भी उज्ज्वल बनेगा। संसार को धर्मशाला ही समझो यह स्थायी निवास का क्षेत्र नहीं है।



जिसका जन्मोत्सव मनाते हो उसके आदर्शों को अपनाओ

भारत सदा से कृतज्ञ रहा है। जिसके द्वारा उपकार होता है उसे भारत सदा मानता है। यही कारण है कि भगवान राम, कृष्ण, शंकर, देवी आदि के स्मृति दिवस पर्व के रूप में यहाँ मनाये जाते हैं।

भगवान कृष्ण की लीलाओं में बालक, वृद्ध, मूर्ख, पंडित, ज्ञानी, अज्ञानी, मुमुक्षु और विषयी पामर सभी को रसानुभव होता है। सभी को उनकी लीलायें आनन्द का अनुभव कराती हैं। वैसे तो भगवान के सभी अवतारों का ध्येय धर्म की स्थापना करना और अधर्म का निराकरण करना तथा दुष्टों का संसार एवं सज्जनों का संवर्धन करना रहता है परन्तु श्री भगवान कृष्ण के पूर्वावतार की विशेषता यह है कि इसका प्रधान प्रयोजन भक्तियोग का प्रसार है।

आप लोगों को चाहिये कि भगवान कृष्ण के जन्म का उत्सव मनाकर ही अपने कर्तव्यों की इतिश्री न कर लें अपितु उनकी लीलाओं के द्वारा उनके यश का गान करते हुए उनसे जो उपदेश दिया है उसे अपने व्यवहारिक जीवन में उतारने का प्रयत्न करें। सुख, शान्ति और परमगति की प्राप्ति के लिये भगवान ने कहा है कि धर्मशास्त्र की आज्ञा प्राप्त करो।

नहीं होता बाहरी स्वतंत्रता से मनुष्य को स्थाई संतोष नहीं हो सकता।

समस्त वासनाओं को शास्त्रों ने तीन कोटि में विभक्त किया है—देह में वासना, लोक वासना तथा शास्त्र वासना। देह वासना यह है कि देह आत्म बुद्धि रखकर रातदिन इसी के पोषण तथा सजावट में लगे रहना। मनुष्य शरीर की विशेषता यह है कि इसी के द्वारा प्रयत्न करके हम ईश्वर को प्राप्त कर सकते हैं। ईश्वर प्राप्ति ही इसका मूल्य है। अतः यदि इस दृष्टि से शरीर को स्वस्थ तथा निरोग रखने का प्रयत्न किया जाय तो ठीक है अन्यथा भोग के लिये शरीर का पोषण करना मूर्खता है क्योंकि शक्ति रहते इन्द्रियाँ न भोगों से तृप्त हुई हैं और न हो सकती हैं।

इस लोक में मान सम्मान की इच्छा रखना तथा जन्मांतर में स्वर्गादिक लोकों की इच्छा रखना लोकवासना कहलाती है। लोक वासना के लिये ही लोग नाना प्रकार की अनीतियों का आश्रय लेते हैं। दम्भ का उद्गम स्थान मान सम्मान की वासना ही है। लोक वासना की शान्ति तो तभी हो सकती है जब अद्वितीय उच्च पद प्राप्त हो क्योंकि लोक वासना के रहते हुए अपने से उच्च को देखकर ईर्ष्या होना स्वाभाविक है। ईर्ष्या से अशान्ति और अशान्ति से दुःख होना अवश्यम्भावी है। शास्त्र वासना की निन्दा करते हुये आचार्यचरण ने कहा कि वास्तविक स्वतंत्रता तो वह है जब वासनाओं के पंजे से छुटकारा मिले। वासनाओं का नाश होते ही मनुष्य मुक्त हो जाता है। उपनिषदों में वासना-ध्वंस को ही मोक्ष माना है। ऐसा परम स्वातंत्र्य प्राप्त करना ही मनुष्य जीवन का चरम लक्ष्य तथा परम पुरुषार्थ है।



समाज के उत्थान के लिये—वैदिक धर्म एवं संस्कृति का

पुनरावलम्बन आवश्यक

वेदों की प्रामाणिकता संदेहातीत है। अनेकानेक महर्षियों ने धैर्य और अध्यवसाय पूर्वक यम, नियम और संयम के द्वारा अनुसंधान करते हुये वेदोक्त विषय का प्रत्यक्ष

अनुभव किया है। आज भी ऐसे महात्मा खोज करने पर मिलते हैं जिन्होंने आत्मस्वरूप का साक्षात्कार किया है।

धर्म अन्धविश्वास पर आधारित है इस कथन का खण्जन करते हुए जगद्गुरु महाराज ने कहा कि वैदिक हिन्दू धर्म के बारे में ऐसा अनर्गल प्रलाप या तो अज्ञानता के कारण किया जाता है अथवा किसी प्रच्छन्न उद्देश्य की पूर्ति के लिये। हमारे यहाँ महर्षियों ने सत्य असत्य का निर्णय करने के लिये चार सोपान बतलाये हैं— श्रुति, गुरुक्ति, युक्ति और अनुभूति। इन चारों उपायों से जो बात सिद्ध हो वह सत्य है। केवल युक्ति अनुभूति यथार्थ बोध करने में समर्थ नहीं है क्योंकि यह संस्कार सापेक्ष है।

इसका प्रमाण यह है कि एक ही विषय के बारे में सबके अनुभव और युक्तियाँ समान नहीं होतीं। यदि ऐसा कहा जाय कि सबके अनुभव में समान रूप से आने वाली बात को सत्य मानना चाहिये तो यह भी ठीक नहीं क्योंकि उक्त बात केवल यही ज्ञान कराती है कि उतने अंशों में सबके संस्कार समान थे। धार्मिक शिक्षा समाप्त हो जाने से लोग धीरे-धीरे धर्म के स्वरूप को भूलते गये यहाँ तक कि उन्हें आत्मस्वरूप का भी विस्मरण हो गया। विदेशी शासकों की कुप्रथाओं का अंधानुकरण करते करते उन्हीं बातों को आज गुण मान बैठे हैं। स्वाभाविक ही है क्योंकि बुद्धि कर्मानुसारिणी होती है परन्तु समाज को चेतना चाहिये। हिन्दू समाज का उत्थान पाश्चात्य संस्कृति पर गर्व रखने भारतीयों के द्वारा नहीं हो सकता। केवल वैदिक धर्म और संस्कृति के पुनरावलम्बन से ही भारत अकेले अपने प्राचीन गौरव को प्राप्त कर सकता है।



योजनायें बना-बनाकर अपने जीवन को उल्लान में मत डालो

थोड़ा समय है भगवान का भजन करते हुए आगे चलो।

जगत तो धर्मशाला है। चार दिर यहाँ रहना है फिर आगे चलना है। धर्मशाला के निवास में कोई भी प्रबंध की उल्लान में बहुत अधिक नहीं फँसता जैसे होता है काम निकाल लिया जाता है। किसी चीज की कमी भी होती है तो लोग अधिक परेशान नहीं होते, सोचते हैं कि धर्मशाला में दो दिन किसी तरह काट लो फिर तो इसे छोड़ ही देना है। धर्मशास्त्र में यदि कोई अपनी इच्छा के अनुसार प्रबंध करने लगे तो उसका सारा समय रहने का प्रबंध करते-करते ही बीत जाय और जिस कार्य के लिये उस नगर में आया है वह कुछ न हो पाये।

जगत को धर्मशाला मानना चाहिये। थोड़े दिन का जीवन है यहाँ किसी को स्थायीरूप से तो रहना नहीं है। इसलिये जगत के प्रबंध में बहुत दिलचस्पी मत रखो। उतना ही भाग लो कि जिससे निर्वाह होता चले। यह सदा स्मरण रखो कि जितनी तुम योजनायें बनाओगे वे सब कभी भी पूरी नहीं हो सकतीं। इसलिये व्यर्थ में 'स्कीमें' (योजनायें) बना-बनाकर, अपने को आशा के सूत्र में टांगे रहना और उसी के संबंध में सोचते-विचारते रहकर रातदिन अशान्त बने रहना, इसमें समय की बरवादी के सिवा और कोई लाभ नहीं है।

जगत में कितना भी प्रबंध करो फिर भी कोई कमी बनी ही रहेगी। इसलिये जो मद कभी पूरा नहीं होने वाला है उसमें हाथ लगाना ही व्यर्थ है। जीवनयापन के लिये सामान्य रूप से शास्त्र विहित पुरुषार्थ करते चलो और मुख्य पुरुषार्थ उसमें करो जिससे स्थायी सुख-शान्ति की प्राप्ति होना है। भगवान को प्राप्ति के लिये प्रधान रूप पुरुषार्थ करते हुए लौकिक पदार्थों की प्राप्ति के लिये यह दृढ़ विश्वास रखो

होता है। असत्य का प्रयोग करने के लिये सत्य में कुछ मिलावट करना पड़ता है। असत्य भाषण करना ही कठिन है क्योंकि उसे बनाना पड़ता है। इसलिये स्वाभाविक रूप से सत्य का व्यवहार करो तो वह शक्ति आ जायेगी कि जो कुछ कहोगे वह ही जायेगा।



जीव ब्रह्म की एकता

निष्काम कर्म से जन्ममरण की निवृत्ति धर्माचरण से त्राण।

यदि मनुष्य अपने वास्तविक स्वरूप का चिन्तन करें तो कभी भी अपने को दीनहीन नहीं मान सकता।

अज्ञान का पर्दा हटने पर जीव और ब्रह्म का अभेद स्पष्ट अनुभव में आता है। जीव और परमात्मा में जो भेद दिखाई देता है वह ऐसा है जैसे धान और चावल का भेद। जब तक भूसी है वह धान कहा जाता है। भूसी निकाल लेने पर चावल तो वह है ही। इसी प्रकार जीवन जब तक कर्म बंधन में पड़ा है तब तक परमात्मा से भिन्न है। कर्म बन्धन नष्ट होने पर वह परमात्मा ही है।

यद्यपि धान चावल ही है परन्तु भूसी बिना निकाले कोई उसे उबालकर नहीं खाता। इसी प्रकार कर्म बन्धन को नष्ट किये बिना वेदान्त की पुस्तकें पढ़कर शुद्धोऽहं, विशुद्धोऽहं कहने लगने से कोई ब्रह्म नहीं हो जाता। कर्मपास से छुटकारा दिलाने का मार्ग बताने के लिये ही वेद और शास्त्र हैं।

यदि क्रियमाण (आगामी) कर्मों की ही परमात्मा को अर्पण करते जायँ तो भी पुनर्जन्म के चक्र से छूट सकते हैं। यदि धान से समूची भूसी न हटे केवल उसकी नोक ही तोड़ दी जाय तो भी उसमें किसी प्रकार अंकुर नहीं निकल सकता। पुनः जन्म लेना ही कर्म का अंकुरित होना है। निर्मली में जल को साफ करने का गुण है, पर यदि उसे घिसकर पानी में न मिलाया जाय तो जल की गंदगी

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।

न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥

अर्थात् जो शास्त्रविधि को त्यागकर अपनी इच्छा के अनुसार व्यवहार करता है उसको न सुख होता है, न शान्ति मिलती है और न परमगति ही मिलती है, अर्थात् उसका लोक परलोक दोनों बिगड़ता है। भगवान ने जो कहा है कि—

‘मामनुस्मर युद्ध च’

मेरा स्मरण करते हुये युद्ध करो। इसक तात्पर्य यही है कि शास्त्र मर्यादानुसार अपने अपने अधिकारानुकूल कर्म करते हुए भगवान का भजन करते चलो तो लोक में भी सुख-शान्ति रहेगी और परलोक में भी उत्तम गति होगी।



शक्तिशाली बनो दुर्बलों को कोई नहीं पूछता

जगत की वर्तमान परिस्थिति के संबंध में विचार प्रकट करते हुए जगद्गुरु महाराज ने कहा कि एक ओर संसार की उन्नति की चर्चा और दूसरी ओर भीषण युद्ध की तैयारियाँ दोनों बातें साथ-साथ नहीं चल सकतीं। शान्ति के लिये की जाने वाली संधियों में आगामी युद्ध की भूमिका बनाई जाती है। परिणाम निश्चित, है कि अवसर आने पर युद्ध की ज्वाला धधके बिना रह नहीं सकती। आखिर यह सब क्यों हो रहा है ? जान पड़ता है कि शक्तिशाली राष्ट्रों की विचारधारा में कोई मौलिक दोष है क्योंकि मशीनगनों की गोलियों की टकराहट से पहले विचारों की तनातनी होती है।

अशान्ति के कारणों का विवेचन करने पर ज्ञात होता है कि सच्चे धर्म के अभाव में फैली हुई नास्तिकता, भौतिकता की प्रधानता, विवेकहीन जातीयता तथा कभी तृप्त न होने वाली भोग वासनाओं के कारण उत्पन्न हुई आर्थिक समस्यायें जगत में होने वाले सभी संघर्षों के मूल यही बातें, किनी न किसी रूप में विद्यामन

रहती हैं। इन समस्याओं का हल संसार के समक्ष रखने के लिये भारत को, हिन्दूधर्म और संस्कृति के आधार पर सुसंगठित होकर, शक्तिशाली बनने की आवश्यकता है क्योंकि आज की दुनियाँ में दुर्बलों की उत्तम से उत्तम सलाह भी कोई मानने को तैयार नहीं।



सुख की इच्छा से कभी किसी की सेवा मत करो

क्योंकि कोई दूसरा तुम्हें सुखी नहीं बना सकता। संसार में सुख की आशा से कभी भी किसी के सामने दीन मत बनो। क्योंकि सुख कभी किसी बाहरी वस्तु से प्राप्त नहीं होता। सुख का भण्डार तो अपने अन्दर ही है। बाहर तो जो कुछ है सब दुःख का ही सामान है।

बाहर के सांसारिक पदार्थों में जो लोग सुखवृद्धि कर लेते हैं उन्हें बाद में अनुभव होता है कि धोखा हो गया। मृगमरीचिका में जल की भावना कर लेने से जल की प्राप्ति तो हो नहीं सकती। यही है कि दूर से जल दीखेगा और उसकी प्राप्ति के लिये दौड़ते रहो। ठीक यही हाल उन लोगों का होता है जो जगत के पदार्थ धन, स्त्री, पुत्र आदि में सुख की भावना करके इनके संग्रह के लिये परेशान रहते हैं। केवल परेशानी ही उनके हाथ लगती है।

यदि सुख और शान्ति का अनुभव करना चाहते हो तो उसे बाहर के पदार्थों में न ढूँढ़कर अपने अन्दर ही ढूँढ़ो। सर्वान्तर्यामी परमात्मा ही सुखस्वरूप है और अपने हृदय में ही उसका नित्य निवास है। इसलिये अपने अन्दर ही उसे ढूँढ़ो। अपने अन्दर ही उसे ढूँढ़ोगे तो वह जल्दी मिलेगा।



आप लोग सर्व समर्थ महर्षियों की सन्तान हैं उन्हीं के मार्ग पर चलिये तभी शक्तिशाली हो सकेंगे

वशिष्ठ, विश्वामित्र, भारद्वाज, अत्रि, अंगिरा, जमदग्नि आदि त्रिकालज्ञ सर्व समर्थ महर्षियों का नाम आप लोग आज भी बड़े गौरव के साथ लेते हो। उनके नाम पर अपने गोत्र बताते हुए आज भी गौरव का अनुभव करते हो। किन्तु वे सर्वसमर्थ थे और आज उनकी संतान आप लोग सर्वथा शक्तिहीन हो रहे हो। क्या कभी अपनी इस दीन दशा पर विचार भी करते हो ? आज भी अपने पूर्वजों के मार्ग पर चलकर आप अपना उत्कर्ष साधन कर सकते हैं।

जिस सोपान का सहारा लेकर इन लोगों ने भगवान को प्राप्त किया और इतना सामर्थ्य संपादन किया, उसी सोपान का सहारा लेकर आप लोग चलोगे तो निश्चय है कि वह सिद्धि समाधि आप को भी होकर रहेगी। आज भी आप लोगों के शरीरों में उन्हीं का रक्त है और पथ प्रदर्शक वही प्राचीन गुरु परम्परा आज भी पूर्ववत् उपलब्ध है। केवल अपनी ओर से कमी है।



जो सत्य बोलता है उसकी वाणी में बल आता है

जो सत्य बोलता है उसकी वाणी में बल आता है, वह जो बोलता है उसका असर दूसरों पर पड़ता है और मनसा वाचा कर्मणा कभी भी असत्य का प्रयोग नहीं करता तो उसे वाक सिद्धि हो जाती है। जो वह कह देता है वह होकर रहता है। शक्ति संचय का कितना सरल उपाय है। यदि चाहते हो कि जो तुम कह दो वह हो जाय तो कुछ दिन असत्य भाषण करना बंद कर दो। वास्तव में मनुष्य को स्वभाव से ही सत्य का प्रयोग करना चाहिये। विचार करने पर असत्य का अवलम्बन ही अस्वाभाविक मालूम पड़ता है क्योंकि जो सत्य होता है वह तो स्वाभाविक ही वैसा

सहारा लिया जाय जो लोक परलोक दोनों जगह काम दे। मनुष्य चाहे जितना भी ऐश्वर्य सम्पन्न हो जाय फिर भी उसका ऐश्वर्य सीमित ही रहेगा और कभी भी, प्रारब्ध बदलने पर, वह दीन हो सकता है। इसलिये जिसकी स्वयं की स्थिति निश्चित नहीं है उसका सहारा लेकर धोखा ही तो उठाना होगा। सबसे चतुर वही है जो परमात्मा का भजन करता है। वह लोक परलोक में सर्वत्र सुखी रहता है। इसलिये कहा है—

‘या लोक द्वय साधिनी स चातुरी चातुरी’ अर्थात् चातुरी वही है जो दोनों लोकों को उज्ज्वल बनाये अर्थात् जिसके द्वारा इहलोक और परलोक दोनों जगह सुखशान्ति की प्राप्ति हो।



जैसा व्यवहार दूसरों के द्वारा तुम चाहते हो वैसा ही व्यवहार दूसरों के साथ तुम करो

आत्मवत सर्व भूतेषु यः पश्यति स पश्यति।

जब कोई तुमको गाली देता है या कटुवचन कहता है तो तुमको कष्ट होता है। इसी प्रकार जिसको तुम कटुवचन कहोगे उसको भी कष्ट होगा। ऐसा सोचकर कभी किसी को ऐसी बात मत कहो जिसको दूसरों के द्वारा तुम नहीं सुनना चाहते। जैसा व्यवहार तुम दूसरों के द्वारा चाहते हो वैसा ही व्यवहार दूसरों के साथ करो।



जितने मत मतान्तर हैं सब सनातन समुद्र की तरंगे हैं

तरंग जब समुद्र से बाहर जाती है तो कुछ-न-कुछ कचड़ा कूड़ा संग्रह कर ही लेती है। सनातन धर्म समुद्र की हैसियत रखता है और जितने विभिन्न मत-मतान्तर

नहीं हट सकती। उसी प्रकार सनातन वैदिक धर्म कितना भी अच्छा हो यदि उसे आचरण में नहीं लाओगे तो तुम्हारा यह दुःख और दारिद्र्य दूर नहीं सकता।



सुख-शान्ति के अनुभव के लिये जगत के मिथ्यात्व की पुष्टि आवश्यक

जब तक जगत को सत्य मानते हो तभी तक उसमें राग द्वेष के कारण मन में अशान्ति का अनुभव होता है। रुपया का ढेर देखकर किसी के मन में उसे लेने का लालच हो सकता है, परन्तु यदि यह निश्चय हो जाय कि वह मदारी का बनाया रुपया है तो फिर कोई कितना ही कहे उस ओर दृष्टि नहीं जा सकती। इसी प्रकार जब तक जगत के पदार्थों को और व्यवहारों को सत्य मान रहे हो तभी तक उसमें मन फँसा हुआ है, जिस दिन जगत का मिथ्यात्व पुष्ट हो जायेगा उसी दिन इसके प्रति अन्दर से राग समाप्त हो जायेगा और सुख-शान्ति का अनुभव होने लगेगा। जगत से अलग हट जाय तो प्रारब्ध रहते हुए यह नहीं हो सकता। जगत में रहते हुए इसके वास्तविक स्वरूप को जान लेना चाहिये। जगत के स्वरूप को समझ लो और जैसा यह है वैसा ही इसको मानो। यह क्षणभंगुर मिथ्या है तो इसमें सत्य बुद्धि रखकर अपने को परेशान मत करो।

जगत सत्य इसलिये नहीं है कि जो सत्य होता है उसका कभी विनाश नहीं होता वह अपने स्वरूप में सदा एक सा रहता है। जगत को असत् भी नहीं कह सकते क्योंकि असत् उसको कहते हैं जिसका कभी अस्तित्व ही न हो, जिसका कभी मान न हो वही असत् है। जगत का प्रत्यक्ष ही भान हो रहा है वह उसी प्रकार से है जैसे स्वप्न में पदार्थ दिखते हैं। स्वप्नकाल में जैसे स्वापिक पदार्थ सत्य ही प्रतीत होते हैं वैसे ही जाग्रत में यह समस्त जगत प्रत्यक्ष ही सत्यवत प्रतीत होता है,

किन्तु जैसे जागने पर स्वप्न का संसार समाप्त हो जाता है वैसे ही अज्ञान की मोह निशा से जागने पर संसार की सारी चमक-दमक समाप्त हो जाती है।

ईश्वरीय सृष्टि बाधक नहीं

सुख-शान्ति की प्राप्ति में संसार बाधक नहीं बाधक है। ईश्वरीय सृष्टि साधक बाधक नहीं होती अपनी बनाई हुई सृष्टि सी साधक बाधक होती है। इस सिद्धान्त को स्पष्ट करने के लिये महाराजश्री ने एक उदाहरण देते हुए कहा कि एक ग्राम के दो लड़के कहीं किसी शहर में व्यापार करने के लिये गये। कुछ समय बाद उनमें से एक लड़का मर गया। किसी धूर्त ने उस मरे हुए लड़के के घर में आकर कहा कि तुम्हारा लड़का बहुत आनन्द से है। यह समाचार सुनकर उसके माता-पिता बहुत उत्सव मनाने लगे और जो लड़का जीवित या उसके घर में कह दिया कि तुम्हारा लड़का मर गया है तो उसके घर में रोना पीटना शुरू हो गया। अब विचार करना चाहिए कि जो जीवित है उसके घर में रोना-पीटना और जो मर गया है उसके घर में उत्सव मनाया जा रहा है। ईश्वरीय सृष्टि का लड़का मर जाने पर भी अपनी मानसिक सृष्टि का लड़का जिन्दा है इसी से घर में उत्सव मनाया जा रहा है और ईश्वरीय सृष्टि का लड़का जिन्दा रहने पर भी उसे मरा हुआ समझकर दुःख मनाया जा जा रहा है। स्पष्ट है कि सुख-दुःख के अनुभव में ईश्वरीय सृष्टि नहीं अपनी मानसिक सृष्टि ही साधक बाधक है।

इन्द्रिय निग्रह

जीवन में सफलता पाने का रहस्य इन्द्रियों पर संयम प्राप्त करने की आवश्यकता में छिपा है। इन्द्रिय संयम से शारीरिक शक्ति अतिरिक्त अलौकिक मानसिक शक्तियों का उद्घाटन होता है। इन्द्रियों को वश में करने का सीधा उपाय मन को वश में करना है क्योंकि बिना मन के सहयोग के इन्द्रियाँ शक्तिहीन हो जाती हैं। मन पर अधिकार करने के लिये इसे शुद्ध बनाने की आवश्यकता है।

(106)

सुयोग्य सन्तान की उत्पत्ति

मन को आहार शुद्धि पर ध्यान देकर शुद्ध किया जा सकता है। यह अत्यंत सरल उपाय है। आजकल उच्छृंखल, आदर्श भ्रष्ट तथा माता-पिता के ही साथ शत्रुवत ब्यौहार करने वाली संतानों की निरन्तर वृद्धि हो रही है। इसके कारणों पर प्रकाश डालते हुए महाराजश्री ने कहा कि यदि गर्भकाल में माता सात्विक आहार रखकर धार्मिक चर्चाओं का श्रवण मनन करती रहे तो निश्चित ही सन्तान सुयोग्य और आल्हाद बढ़ाने वाली हो। परन्तु आजकल लोग गर्भाधान संस्कार का नाम भी नहीं जानते। यह वेद-शास्त्रों की उपेक्षा करने का कुफल है कि लोगों को सन्तान उत्पन्न करने तक का शहूर नहीं रहा है।



उदर पोषण में ही सारी चातुरी समाप्त मत कर दो

सबसे चतुर वही है जो भगवान की उपासना करता है।

भजन करने से कोई बच नहीं सकता। भगवान को नहीं भजोगे तो राजा रईस सेठ साहूकारों को भजना पड़ेगा। आजकल लोग अपने को बड़ा बुद्धिमान समझते हैं। पर उनकी सारी चातुरी पेट के आसपास ही रहती है। उदर में ही उनकी सारी चातुरी समाप्त हो जाती है, पेट के आगे बुद्धि ही नहीं जाती। उदर रूपी फोड़े की मलहम पट्टी करने में ही सारा समय लगा देते हैं और उसी में सारा जीवन नष्ट कर देते हैं। वास्तव में इससे अधिक घाटा मनुष्य जीवन में दूसरा नहीं हो सकता।

भजन तो करना ही पड़ेगा। भजन करने से कोई बच नहीं सकता। सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान कर्तुम कर्तुमन्यथा-कर्तुमसमर्थ भगवान को नहीं भजोगे तो विषयी पामर राजा रईस सेठ साहूकारों को भजना पड़ेगा। किसी बड़े का सारा नहीं लोगे तो छोटे का सहारा लेना पड़ेगा। इसलिये बुद्धिमानी इसी में है कि परमात्मा का

(107)

परमात्मा से विमुख होने का फल है कि अनेकों

अधि व्याधियों से घिरे हो

नदी जब तक समुद्र में नहीं मिल जाती तभी तक वह पत्थरों और पहाड़ों से टकराती रहती है। समुद्र में मिल जाने के बाद उसको ठोकर देने वाला कोई नहीं रह जाता। इसी प्रकार जीव जब तक परमात्मा से नहीं मिला है तभी तक उसे अनेकों अधि व्याधियों का सामना करना पड़ता है। भगवान से मिलने का मार्ग भगवान कृष्ण ने स्वयं बताया है—

‘सर्वेषु कालेषु मासनुस्मर युध्य च’

अर्थात् सदैव चलते, फिरते, उठते, बैठते, सोते, जागते, स्वधर्मनुष्ठान में लगे रहो और मेरा स्मरण करते चलो।



सत्संग की बातें वैद्यों की नोटबुक के नुसखों के

समान मूल्यवान होती है

अध्यात्मनिष्ठ महात्माओं से सत्संग करो भेदवासियों से नहीं।

सत्संग से आधि की चिकित्सा होती है अर्थात् शान्ति प्राप्ति का मार्ग समझ में आता है। जहाँ सत् का उद्देश्य हो, सत् के जानने, समझने की भावना हो और सत्स्वरूप भगवान की वार्ता हो वही सत्संग है। मोक्ष के लिये सत्संग बहुत ही सहायक है। जो सत्संगी लोग कह देते हैं वह अच्छे-अच्छे पण्डित लोग भी कभी-कभी नहीं कह पाते क्योंकि सत्संग में शास्त्रों का सार सीधे-सीधे प्राप्त हो जाता है और पण्डित लोग तो प्रक्रिया से पढ़ते हैं। जैसे आयुर्वेद में एक ही रोग के अनेकों नुसखे रहते हैं पर जो वैद्य की नोटबुक में नुसखे रहते हैं वे अनुभूत होते हैं और

है सब इसी सनातन समुद्र की तरंगों के समान हैं। समुद्र से ही तरंग निकलकर बाहर जाती है और बाहर निकलते ही उसमें कुछ-न-कुछ कूड़ा-करकट आ ही जाती है। सभी मतों में हमारा कुछ-न-कुछ हिस्सा है। जिस मत की जितनी अच्छी बातें हमारे धर्म से मिलती हैं उन्हें हम वहाँ भी मान्यता देते हैं। सनातन धर्म तो हमारा ‘मुसल्लाम मौजा’ है (अर्थात् उसमें तो हमारा पूर्णरूप से अधिकार है) और सभी मतों में कुछ-न-कुछ हिस्सा है किसी में दो आना हिस्सा है किसी में चार आना हिस्सा है। ‘जुज’ (थोड़ा न थोड़ा) हिस्सा तो हम अपना सभी मत मतान्तरों में मानते हैं। जितने अंश में, जिस मत में हमारी चीज है, उतने अंश में उस मत को हम स्वीकार करते हैं। कोई न कोई अच्छे गुण नास्तिकों में भी होते हैं और उन गुणों के लिये उनको भी हम आदर देते हैं। हमारा इतना व्यापक क्षेत्र है कि हमारे क्षेत्र के बाहर कोई भी जाना चाहे तो नहीं जा सकता और न हम किसी को छोड़ ही सकते हैं। जितना उसमें हमारा हिस्सा है उसको हम कैसे छोड़ देंगे ?

श्रोतागण यह सुनकर धन्य-धन्य कह उठे। लोगों ने कहा—

‘यही जगद्गुरुत्व है।’



समाज-सेवा श्रेष्ठ या भगवद उपासना ?

समाज-सेवा अत्यंत उत्तम कार्य है, परन्तु सेवा करने के लिये सामर्थ्य सम्पादन करना परम आवश्यक है। जनता के दुख को देखकर तुमने भी चार आँसू बहा दिये तो वह समाज-सेवा नहीं हुई। किसी रोगी के पास दो हजार लोग पहुँचकर उसकी सहानुभूति में अश्रुपात करें तो उसकी क्या सेवा हुई ? एक चिकित्सक जाकर उसके रोग को अच्छा कर सकता है क्योंकि उसमें सामर्थ्य है।

धर्मानुष्ठान और भगवदुपासना सामर्थ्य प्राप्त करने के लिये है। सत्य और तप द्वारा वाणी का बल, ब्रह्मचर्य द्वारा शारीरिक और मानसिक बल तथा इष्ट की सविधि

उपासना द्वारा दैवी बल सम्पादन कर उसे, निस्वार्थ भाव से, समाज-सेवा में लगाओ तो उससे समाज का भी कुछ कल्याण होगा।



इतिहास पुराणों की घटनाओं से शिक्षा लेकर

अपना जीवन सफल बनाओ

इतिहास, पुराणों में जो घटनायें लिखी हैं, उनसे शिक्षा लेना चाहिये और उस शिक्षा का उपयोग अपने जीवन को सुख, शान्तिमय बनाने में करना चाहिये। जीवन यात्रा को सफल बनाने के लिये ही समस्त इतिहास, पुराणादि की शिक्षा है।

कहीं कहीं जो तपस्वियों के पतन आदि का वर्णन पुराणों में स्पष्ट रूप से किया गया है, उसका तात्पर्य उनकी निन्दा करना नहीं, किन्तु भावी सन्तान को सचेत करने के लिये ही ऐसे प्रसंगों का उल्लेख किया गया है। जिससे लोग समझ लें कि काम, क्रोधादि के द्वारा किस रीति से साधकों का पतन होता है।

जब तक यह जानोगे नहीं कि किस प्रकार से पतन होता है तो पतन के मार्ग से बचने का प्रयत्न कैसे करोगे ? इसी बोध के लिये ही तपस्वियों और साधकों के नाना रूप में, पतन की गाथायें वर्णन की गई हैं।

इनको पढ़कर या सुनकर किसी को यह भ्रम नहीं होना चाहिये कि बड़े-बड़े महात्मा गिर जाते हैं। बड़े-बड़े महात्मा नहीं गिरते, साधक गिरते हैं। जैसे पण्डित अनुत्तीर्ण नहीं हो सकता विद्यार्थी ही अनुत्तीर्ण होता है। इसी प्रकार साधक ही गिरता है, सिद्ध नहीं गिरते, जो मार्ग में है वही भटक सकता है, लक्ष्य स्थान पर पहुँचा हुआ कभी भी नहीं भटक सकता, यदि भर्जित (अग्नि में सेंके हुए) बीज में अंकुर निकलता हो तो सिद्धों का गिरना माना जा सकता है।

ज्ञानाग्नि दग्ध कर्माणि तमाहुः पण्डितं बुधाः।

ज्ञानाग्नि से जिसने अपने समस्त कर्मों को भस्म कर दिया है, वही बुध है, वही

ज्ञानी है, वही सिद्ध है। किसी को शीतोष्ण सहन करते हुए देखकर या कठिन तप करते हुए देखकर मान लेना कि यह सिद्ध है और अवसर आने पर उसका पतन हो जाय तो कहना कि बड़े-बड़े सिद्ध गिर जाते हैं।

साधकों को विचलित करने के लिये सिद्धियों का और काम, क्रोधादि का आक्रमण हुआ करता है। साधक स्वयं उन आक्रमणों पर विजयी हो जाय, यह बड़ा कठिन रहता है इसलिये सिद्धों के निकट रहकर साधन करने का विधान है।



कथावाचक एवं उपदेशक एक श्लोक का एक ही अर्थ है करें

कथावाचक एवं उपदेशक एक श्लोक का एक ही अर्थ करें। एक ही श्लोक दोहा या चौपाई के अनेक अर्थ करने से श्रोता निश्चय नहीं कर सकता कि किस अर्थ को ठीक माने। एक शब्द या श्लोक का अनेक अर्थ करना पाण्डित्य का सूचक तो है किन्तु जहाँ अर्थ के बोध कराने का तात्पर्य है वहाँ अपनी बुद्धि में जो सबसे उपयुक्त अर्थ जान पड़े उसी को सुनाना चाहिये।

किसी श्लोक या मन्त्र को ले लिया जाय तो वर्षों उसकी व्याख्या चल सकती है उसी को आधार बनाकर समस्त वेद शास्त्र पुराण कहे जा सकते हैं किन्तु प्रसंगवश जहाँ जो अर्थ उपयुक्त हो वही श्रोताओं को सुनाना चाहिये। ऐसा भी हो सकता है, ऐसा भी हो सकता है। इस प्रकार कह-कहकर श्रोताओं को भी भ्रम में डाल देना ठीक नहीं। यदि अनेक अर्थ करते भी हो तो अन्त में यह अवश्य कह देना चाहिये कि इन सब अर्थों में हमें यह अर्थ सबसे अधिक उपयुक्त जान पड़ता है। ऐसा कह देने से पण्डित्य प्रदर्शन भी हो जायेगा और श्रोताओं को भ्रम भी न रहेगा।



सभी लोग सुख-शान्ति की इच्छा करते हैं, चाहते हैं कि किसी भी प्रकार से सुख अशान्ति मिले। किन्तु किसी भी प्रकार से शान्ति नहीं मिलेगी। जो उसके मिलने का प्रकार है उसी को अपनाने से मिलेगी। पहले समझ तो लेने चाहिये कि जिस शान्ति को हम चाहते हैं उसका क्या स्वरूप है ? दुःख दो प्रकार का होता है— एक शारीरिक और दूसरा मानसिक। शारीरिक दुःख को 'व्याधि' कहते हैं और मानसिक दुःख को 'आधि'। 'आधिस्तु मानसी व्यथा' मानसिक व्यथा ही अशान्ति का रूप है, उसी को 'आधि' कहते हैं और शारीरिक व्यथा को व्याधि कहते हैं। व्याधि की चिकित्सा के लिये तो अनेकों बड़े-बड़े अस्पताल हैं और बड़े-बड़े स्कूल कॉलेज हैं। पर व्याधि की चिकित्सा के लिये कोई स्कूल कॉलेज नहीं है। इसलिये चलते हुए कॉलेज महात्मा लोग हैं। कहीं कोई चलता हुआ कॉलेज नगर में आ जाय तो उससे लाभ उठाना चाहिये।

देश में रोटी, कपड़ा कितना भी सस्ता हो जाय और सब शारीरिक आराम की सामग्री कितनी भी सुलभ हो जाय पर यदि किसी बात की चिन्ता है तो रात्रि में सुख से सो भी नहीं सकोगे। धन से शान्ति मिलती तो धनवानों की अशान्ति नहीं रहना चाहिये। पुत्र से शान्ति मिलती होती तो पुत्रवानों को भी अशान्ति नहीं व्यापनी चाहिये। स्त्री से शान्ति मिलती तो सभी स्त्री वाले पुरुषों को सदा शान्ति ही रहनी चाहिये। किन्तु ऐसा नहीं देखा जाता। वास्तव में कोई भी भौतिक पदार्थ ऐसा नहीं है जो शान्ति देने वाला हो। भौतिक पदार्थ स्थूल शरीर से सम्बन्ध रखते हैं किन्तु अशान्ति सूक्ष्म शरीर में होती है।

सूक्ष्म शरीर के दस अंग माने गये हैं।

पंच प्राण मनो बुद्धिर्दसेन्द्रिय समन्वितं।

अपंचीकृत भूतोत्थं सूक्ष्मांगं भोग साधनम्॥

पुस्तकों के नुसखों से अधिक कीमती हैं। सत्संग की बाते वैद्य की नोटबुक में लिखे हुए नुसखों के समान होती है।

सिद्धान्त वे ही होते हैं जो वेद शास्त्रों में हैं पर शास्त्र रूपी दुग्ध का मक्खन निकला हुआ सत्संग में मिलता है।

भवरोग वैद्य अध्यात्मनिष्ठ महात्मा लोग होते हैं। इन्हीं से सत्संग करना चाहिये। जो लोग पक्षपाती हैं उनसे दूर रहना चाहिये क्योंकि उनकी बातें उसी प्रकार की होंगी जिससे उनके सम्प्रदाय की वृद्धि हो। साम्प्रदायिक पक्षपात जहाँ आ जाता है वहाँ सत्संग का रस बिगड़ जाता है और राग द्वेष का प्रश्न आ जाता है।

कहीं किसी नगर में दो साधू एक साथ किसी गृहस्थ के यहाँ गये। गृहस्थ ने उन्हें ठहरा दिया और अलग-अलग उनसे मिलकर एक-दूसरे के संबंध में पूछा। एक ने दूसरे के लिये कहा कि वह तो बैल है वह कुछ नहीं जानता और दूसरे ने उसके लिये कहा कि वह तो गदहा है वह कुछ नहीं समझता। जब भोजन का समय आया तो गृहस्थ ने एक टोकरी में एक के सामने हरी-हरी दूबा और दूसरे के सामने एक टोकरी में भूसा रख दिया और हाथ जोड़कर कहा कि महाराज आप लोगों के ही कहने के अनुसार मैंने सोचा कि गदहे को हरी घास से संतुष्ट करूँ और बैल को भूसा प्रिय होता है तो उसको भूसा ही खिलाऊँ। इतना कहकर उन दोनों को लज्जित करके गृहस्थ ने उन्हें फिर अन्न भोजन कराया और बाद में कहा कि महाराज आप लोगों के साधू महात्माओं के दर्शन एवं उपदेश से हम संसारी अपना कल्याण की भावना रखते हैं और आप लोगों में ही ऐसा ईर्ष्या द्वेष की भावनायें रहें तो इससे हम आस्तिकों का सिर नीचे होता है।

तात्पर्य कहने का यह कि आजकल ईर्ष्या द्वेष की भावनायें साधु-समाज में भी

और उपदेशकों में भी फैल गई है। इस कारण सत्संग भी बहुत सोच समझकर करना चाहिए।



दान के लिये चार उत्तम स्थल

नवीन मन्दिर बनवाने की अपेक्षा प्राचीन का जीर्णोद्धार करना उत्तम।

किस कार्य को करने से कितना पुण्य होता है इसके लिये वेदशास्त्र ही प्रमुख प्रमाण हैं। यदि किसी को सत्कार्य में कुछ खर्च करना हो तो चार उत्तम स्थल बताये गये हैं—विद्यादान, औषधिदान, अन्नदान और जल दान।

इनके करने के बाद यदि और आगे करने की इच्छा हो तो मन्दिर आदि बनवा सकते हैं। पर फिर भी समय को देखते हुए नवीन मन्दिर बनवाने की राय हम नहीं देते। जितने प्राचीन मन्दिर बने हुए हैं उन्हीं में देवताओं की दुर्गति हो रही है, इसलिये यदि मन्दिर के सम्बन्ध में किसी को द्रव्य लगाना हो तो पुराने जीर्ण-शीर्ण मन्दिरों की व्यवस्था ठीक करके उनमें भगवान के राग-भोग का समुचित प्रबंध करना चाहिये।

विद्यादान का विश्लेषण करते हुये श्री भगवान ने कहा कि विद्या उसी का नाम है जो आविद्या को दूर करे, जिससे मनुष्य अपना कर्तव्याकर्तव्य समझे और अपना लोक-परलोक न बिगड़ने दे, वही विद्या है।

मुख्यतया अध्यात्म ज्ञान को ही हमारे यहाँ विद्या माना गया है और ये तो सब उदर पोषण के लिये भाषाओं का ज्ञान है, इसको विद्या नहीं कहते।



अशान्ति सूक्ष्म शरीर में होती है वह ऊपरी भौतिक उपचारों से दूर नहीं होगी

अशान्ति हटाने के लिये सूक्ष्म शरीर की चिकित्सा आवश्यक है। व्याधि के लिये आयुर्वेद और आधि के लिये अध्यात्म शास्त्र है। बिना आध्यात्मिक ज्ञान के शान्ति नहीं मिलेगी।

जिस प्रकार आयुर्वेद में निष्णात कुशल अनुभवी वैद्य के समीप जाने से अपने शारीरिक रोग की निवृत्ति की आशा रहती है, उसी प्रकार अशान्ति, जो मानसिक व्याधि है, उसकी निवृत्ति अध्यात्मशास्त्र पारंगत अनुभवी अध्यात्मवेत्ता महात्माओं के सम्पर्क से ही हो सकती है। अशान्ति को मानसी व्यथा कहा जाता है। उसकी चिकित्सा का अर्थ है मन (सूक्ष्म शरीर) की चिकित्सा करना जब तक यह बोध नहीं है कि अशान्ति का स्थान सूक्ष्म शरीर है स्थूल शरीर नहीं, तब तक अशान्ति मिटाने के लिये भी भौतिक सामग्रियों की अधिकाधिक प्राप्ति के उपाय ही किये जाते रहेंगे। बिना निदान जाने जो औषधि की जाती है वह रोग को ठीक नहीं करती। अशान्ति हटाने का उपाय यही है कि जिस सूक्ष्म शरीर में वह उत्पन्न होती है, उसको पहले ठीक से समझा जाय क्योंकि सूक्ष्म शरीर को समझने के बाद ही पता लग जाता है कि उसमें किस प्रकार का कितना विकार कैसे आया? जिस वैद्य ने शरीर के अंग-प्रत्यंगों की बनावट आदि का ठीक से अध्ययन करके शरीर को अच्छी तरह समझ लिया है वही रोग (अर्थात् विकार) का ठीक से निदान करके रोग की जड़ पकड़ सकता है। जिसने सूक्ष्म शरीर का भली प्रकार अनुभव कर लिया है वही उसमें उत्पन्न विकारों को ठीक प्रकार से समझ सकता है और उचित निदान करके उसकी सफल चिकित्सा कर सकता है।

धर्मघातियों की श्रेणी में रखे जाओगे। भारत धर्मप्रमाण देश है। इस देश का प्राण धर्म है। धर्म ही यहाँ की सुख शान्ति का मूल है। जो हमारे सुख शान्ति के मूल धर्म का खण्डन करे वह हमारे देश का प्राण निकालने वाला है। क्या ऐसा व्यक्ति या समाज हमारा समर्थन पा सकता है ? जनता को चाहिये कि वह विचार से काम ले। ऐसे व्यक्ति या पार्टी का सदैव खण्डन करना चाहिये जो धर्म के विपक्ष में खड़ा हो।

चोरों का दल बहुत सबल होता है उसके हाथ में बंदूक, तलवार आदि सब होती है। पर यदि चौकीदार अपनी आवाज लगाता रहे तो उनकी आगे बढ़ने की हिम्मत नहीं पड़ती। धर्म प्रोहियों की भी यही दशा है। उसके पास सत्ता और शक्ति हो सकती है पर यदि धार्मिक लोग अपनी आवाज उठाते रहेंगे तो उनकी सफलता होना कठिन है। इसलिये चौकीदारी नहीं छोड़ना चाहिये आवाज लगाते रहना चाहिये अपनी तरफ से लोगों को सचेत करते रहना चाहिये, फिर जो सोयेगा वह लूटा जायेगा।



नित्य समाधि की अवस्था ही जीवन मुक्ति है

जीवनमुक्ति महापुरुष की नित्य समाधि का लक्षण किया गया है कि—

देहाभिमान गातीते विज्ञाते परमात्मनि।

यत्र यत्र मनो याति तत्र तत्र समाधयः ॥

देहाभिमान गलित हो गया है अर्थात् ब्राह्मणोऽहं, क्षत्रियोऽहम्, वैश्योऽहं, शूद्रोऽहं, बालकोऽहं, वृद्धोऽहं, अन्धोऽहं, वाधियोऽहं, पठितोऽहं, मूखोऽहं आदि नाना प्रकार की अहं भावनायें या अभिमान नष्ट हो गये हों। अर्थात् शरीर की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं के साथ शरीर मन बुद्धि की भिन्न अवस्थाओं के साथ अपनी आत्मा का संबंध जोड़कर शरीरादि में हूँ इस प्रकार का मान होना समाप्त हो गया और

पाँच प्राण (प्राण, अपान, उदान, व्यान और समान), मन, बुद्धि और पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ (श्रोत्र, घ्राण, रसना, नेत्र और त्वक्) तथा पाँच कर्मेन्द्रियाँ (वाक्, पाद, हस्त, गुदा और मूलोन्द्रिय) इन 17 तत्त्वों से मिलकर सूक्ष्म शरीर बनता है।

इनकी विशुद्ध अवस्था में जो विकार आता है वही अशान्ति का मूल रूप बन जाता है। इसलिये अशान्ति से बचने के लिये सूक्ष्म शरीर को पवित्रता बनाये रखना आवश्यक होता है। सूक्ष्म शरीर को आधि-मुक्त कर लेने से व्याधियाँ भी बहुत कम हो जायेंगी क्योंकि आधि से ही अनेकों व्याधियाँ उत्पन्न हो जाती हैं।

सूक्ष्म शरीर की पवित्रता बनाये रखने के लिये ही वेदशास्त्र में सदाचार का पालन बताया गया है। धर्मशास्त्रानुसारी कर्तव्य कर्म करते हुए परमात्मा का भजन पूजन चिन्तन ध्यान करना ही व्याधि की चिकित्सा करना है। स्वधर्मानुष्ठान और विधिपूर्वक इष्ट का जप ध्यान करने से धीरे-धीरे सूक्ष्म शरीर पवित्र होता जाता है और अशान्ति कम होती जाती है।

समस्त अशान्ति का कारण है संसार में राग और संसार के पदार्थ तभी तक रागास्पद हैं जब तक उनके स्वरूप पर विचार नहीं किया गया है।

एक बार विचार करके संसार का स्वरूप समझ लो तो कभी उसमें राग हो ही नहीं सकता। राग का कारण स्वरूप का अज्ञान। जिस परमशान्ति स्वरूप परमात्मा में राग होना चाहिये। उसके स्वरूप को जाने बिना उससे प्रेम नहीं करते और जिस संसार में राग नहीं होना चाहिये उसके स्वरूप को जाने बिना ही उसमें प्रेम हो रहा है। संसार का स्वरूप या परमात्मा का स्वरूप दो में से कुछ भी जान लो तो राग की 'सीट' बदल जायेगी, फिर संसारी पदार्थों में राग न होकर परमात्मा में ही राग होगा। ऊपर से संसार के कार्य सब चलेंगे पर भीतर से परमात्मा में ही प्रेम रहेगा। संसार और परमात्मा दोनों का यथार्थ ज्ञान अध्यात्म शास्त्र से ही होता है।



सुखी वही हो सकता है जो भगवान के तरफ झुका हो

उपाय किये बिना बीजक के दर्शन मात्र से तृप्ति नहीं होगी। जो स्वयं सुखी है वही दूसरे को सुखी बना सकता है। संसार में कोई भी ऐसा नहीं है जो हर प्रकार से सुखी हो। पूर्णरूप से सुखी तो परमात्मा ही है। परमात्मा से ही हर प्रकार का सुख प्राप्त हो सकता है। परमात्मा ही ऐसा 'जनरल मर्चेन्ट' है जिसके यहाँ सुख की किसी भी सामग्री का अभाव नहीं होता। किन्तु उसकी कृपा प्राप्त करने के लिये विधिवत् प्रयत्न करना पड़ेगा, केवल परमात्मा का महात्म्य पाठ करने से कुछ होगा नहीं ?

संसारियों से सुख प्राप्ति की इच्छा करना भूल है। भला जो स्वयं दुखी है वह दूसरे को सुखी क्या बनायेगा ? संसार में जो सुख दिखता है वह सब सापेक्ष सुख है। किसी से कोई किसी अंश में सुखी है तो कोई किसी अंश में।

किसी से सुख की याचना करनी ही है तो ऐसी जगह के याचक बनो, जहाँ से सर्वसुख प्राप्त हो सके। स्मरण रखो कि जो परमात्मा के तरफ झुका है वही संसार में सुख शान्ति प्राप्त कर सकता है, दूसरा नहीं। संसार में सुख ढूँढ़ना ऐसा है जैसा प्यास बुझाने के लिये ओस के बूँदों का संग्रह करना।



ऐसा न हो कि परमात्मा की भक्ति करो और पतियों को त्याग बैठो

जिसकी जो 'सीट' है उस सीट पर उसको बैठाना चाहिये। अपने-अपने स्थान पर ही सब चीज अच्छी लगती है। महिलाओं को चाहिए कि भगवान की भक्ति तो करें पर कहीं ऐसा न कर बैठें कि भक्ति के पीछे पतियों का त्याग कर दें। भावावेश में बहना ठीक नहीं। काम वह करना चाहिये जो कुछ दिन चले। दूरदर्शिता

से काम लेना चाहिये। जिस प्रकार सद्गुरु के प्रसन्न होने पर इष्ट की प्रसन्नता प्राप्त होती है उसी प्रकार पति के प्रसन्न रहने पर स्त्री पर देवी-देवता और भगवान भी कृपा करते हैं और हर प्रकार से मंगल होता है। यही हमारे भारत का पुराना अनुभूत नुसखा है। मर्यादा की रक्षा पर सदा ध्यान रखना चाहिए। कहीं कथा-वार्ता सत्संग में जाना हो तो स्त्री को अपने पति या पिता या भाई के साथ ही जाना चाहिये। स्वतंत्र स्त्रियों का घूमना भारत की सभ्यता नहीं। जहाँ मर्यादा का उल्लंघन होता है वहीं हर प्रकार की आपत्तियाँ और अशान्ति होती है। मर्यादा का बाँध न टूटने पाये इसके लिये सदा सतर्क रहना चाहिए। नदी जब बाँध तोड़ देती है तो कई गाँवों को क्षति पहुँचती है, उस समय बड़े-बड़े दुःखों का सामना करना पड़ता है।



धर्म विरोधी, भारत के प्राणघातक हैं इनसे बचो

जिनके हाथ में सत्ता हो उसी का समर्थन करो ऐसा नहीं विचार, से काम लो, उचित समर्थन और अनुचित का त्याग करो।

कुम्हार के कुत्ते मत बनो कि जिसके हाथ में माटी का लोवा देखा उसी के पीछे हो लिये। ऐसा नहीं कि जिसके हाथ में शासन सत्ता देखी उसी के पिछलग्गू बन गये। यदि शासक धर्मात्मा है तब तो उसका समर्थन उचित ही है और यदि वह धर्म का विरोधी है तो चाहिये तो यह कि निर्भीकता से उसका विरोध करो, और विरोध करने में किसी प्रकार की अड़चन देखते हो तो कम से कम जानबूझकर, उसका समर्थन तो मत करो। यदि तुम उसका समर्थन करते हो तो उसी के पाप के भागी बनोगे।

यदि तुम गो-वध के समर्थक का समर्थन करते हो तो जो गो हत्या होगी उसका पाप तुम्हें भी लगेगा। यदि तुम धर्मघाती का समर्थन करते हो तो तुम भी

अन्तिम गति है। इसी प्रकार परमात्मा ही जीव का शरण्य है, परमात्मा ही जीव की अन्तिम गति है। जीव जीव का शरण्य नहीं हो सकता। अंधा अंधे को क्या सहारा देगा ? इसलिये भक्त भी मनुष्यों के आगे दीन नहीं बनता क्योंकि वह परमात्मा का दीन बन चुका है। फिर ज्ञानी का तो कहना ही क्या वह तो सर्वत्र अभेद दर्शन करता है।

वर्तमान भक्त और ज्ञानी

दम्भ और जड़ता की निन्दा करते हुए धर्माचार्य ने कहा कि वर्तमान समय में प्रायः ऐसी प्रवृत्ति देखी जाती है कि जो भगवन्नाम संकीर्तन करने लगे वे समझने लगते हैं कि मानो उनके लिये और कुछ कर्तव्य करने को रह ही नहीं गया। वे सोचते हैं कि कर्मानुष्ठान और ज्ञान उनके लिये निरर्थक है। ऐसा सोचना भूल है। भक्तों को विचार करना चाहिये कि वे जिनकी भक्ति करते हैं वे राम और कृष्ण स्वयं कर्म करते हुए दूसरों को कर्म करने की आज्ञा देते हैं।

गीता में भगवान कृष्ण ने कहा है कि—

यद्यदाचरति श्रेष्ठः तद्भवेत्तरो जनः।

स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते।।

श्रेष्ठ पुरुष जैसा आचरण करते हैं, वे जिसको प्रमाण कर देते हैं, लोक भी उनका अनुकरण करता हुआ वैसा ही आचरण करता है। इसीलिये भगवान कृष्ण ने स्पष्ट यह कहा कि यदि अपने लिये कुछ करने को शेष नहीं रहा, परमात्मा को प्राप्त कर कृतकृत्य हो चुके तो भी लोक संग्रह की दृष्टि से ही कर्म करना चाहिये—

‘लोक संग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि।

इतना ही नहीं भगवान यह भी कहते हैं कि कर्म न करने से हम उस दोष के अपराधी होंगे जो कर्म के लुप्त होने पर उत्पन्न होगा। भगवान तो आप्तकाम हैं पर

सर्वत्र चराचर में विराजमान सर्वथा असंग, निर्विशेषसाक्षी रूप परमात्मा के साथ अपनी आत्मा के अभेद ज्ञान में निष्ठा हो गई हो अर्थात् आत्मसाक्षात्कार हो गया हो और सदा आत्मस्थिति रहती हो तो जहाँ-जहाँ मन जाता है वहीं-वहीं समाधि का अनुभव करता है, विजातीय प्रत्यय रह ही नहीं जाता सर्वत्र सदावस्था में, उठत, बैठत, सोवत, जागत अपने इष्ट में ही वृत्ति रहती है। यही नित्य समाधि का स्वरूप है। यही जीवन्मुक्त पुरुष की आत्म स्थिति सहजावस्था है।

देहाभिमान कैसे नष्ट हो ?

ऊपर के श्लोक से यह स्पष्ट है कि जीवन्मुक्ति के लिये जो चीजें आवश्यक हैं। पहला देहाभिमान का नष्ट होना और दूसरा परमात्मा का साक्षात्कार होना। देहाभिमान के संबंध में यह बात है कि जैसे देहाभिमान हुआ है उसी प्रकार से वह नष्ट किया जा सकता है। जो चीज जिस रास्ते से आती है उसी रास्ते से वापिस भी जाती है। जीने से ही होकर कोई ऊपर आता है। उसे नीचे भेजने के लिये जीने से ही उतारना पड़ता है। जैसे-जैसे परमात्मा से विमुख हुए हैं और शरीरादि के जगत संबंधी संस्कार जैसे-जैसे पुष्ट हुए हैं वैसे-वैसे ही धीरे-धीरे परमात्मा का संस्कार जमाने और जगत का संस्कार ढीले करते जाने से शरीरादि को जो अपना स्वरूप आत्मस्वरूप समझ लिया गया है वह भ्रम निवृत्त हो जायेगा और तब अपने को ब्राह्मण, क्षत्रिय, गृहस्थ, ब्रह्मचारी, बालक, वृद्ध आदि न समझकर इन सबसे सर्वथा असंग, सत्तास्फूर्ति प्रदायक मात्र चिन्मय आत्मा समझने लगेगा।

इसके लिये दीर्घकाल तक सतत अभ्यास और वैराग्य की आवश्यकता है। वैराग्य के द्वारा जगत के संबंध को शिथिल करते हुए शरीरादि संबंधी विषयभोग से भी मन को हटाते हुए और धीरे-धीरे मन को परमात्मा के नाम और स्वरूप में मन को लगाये रखने का उदय होता है।

इसी संबंध में साधक के लिये उपयोगी आहार का वर्णन करते हुए श्रीशंकराचार्य महाराज ने कहा कि रजोगुणी, तमोगुणी पदार्थों को हटाते हुए सत्वगुण प्रधान वस्तुओं के उपयोग से सत्व गुण प्रधान मन और बुद्धि बनती है। तत्व प्रधान बुद्धि में विवेक उत्पन्न होता है और विवेक के द्वारा जगत का मिथ्यात्व और परमात्मा सत्ता का नित्यत्व उपस्थित होते हुए वैराग्य और अभ्यास दोनों दृढ़ होते हैं और इसी से आगे लक्ष्य प्राप्ति रूप अभीष्ट सिद्धि होती है। रजोगुणी तमोगुणी पदार्थों से शरीर में जो बल आता है उसके साथ मन बुद्धि में अविवेक उत्पन्न होता है जिसके द्वारा उस बल से अनर्थ ही सम्पन्न किया जाता है, इसलिये जब तक विवेक उत्पन्न नहीं होगा तब तक पौष्टिक पदार्थों के सेवन का सदुपयोग भी नहीं हो सकेगा। मन बुद्धि में रजोगुण-तमोगुण न बढ़ पाये नहीं तो जीवन भर दुःख और अशान्ति भोगनी पड़ेगी और मनुष्य जन्म व्यर्थ ही जायेगा।

सुखी कौन ?

सुख के स्वरूप का वर्णन करते हुए महाराजश्री ने कहा कि हमारे यहाँ भारत में तो आप्त वाक्य ही प्रमाण माना जाता है।

‘आप्रस्तु यथार्थ वक्ता !’

आप्त उसी को कहते हैं जिसे सत्यासत्य का पूर्णबोध हो और जो किसी भी वस्तु का यथार्थ स्वरूप वर्णन कर सके। इस प्रकार के प्राप्त हमारे यहाँ त्रिकालज्ञ महर्षिगण हो गये हैं। उन्होंने जो सुख-दुःख के स्वरूप का वर्णन किया है वहीं हमें मान्य है, क्योंकि अन्य विषयी पामर मनुष्यों की तो दुःख में ही सुख बुद्धि रहती है इसलिये इनके द्वारा विरूपित सुख-दुःख के स्वरूप का क्या प्रमाण माना जा सकता है ?

युधिष्ठिर आप्त पुरुष थे। ग्राह ने जब उनसे प्रश्न किया—कश्च मोदते ?

सुखी कौन ? तब उन्होंने कहा—

(122)

दिवसस्याष्टमे भागे शाकं पचतिस्व गृहे।

अऋणी अप्रवासी च वारिचर मोदते।।

अर्थात् एक दिन में एक बार सायंकाल में केवल शाक उबालकर खाने वाला वह पुरुष भी सुख का अनुभव करता है जो किसी का ऋणी न हो और जो अपने कुटुम्ब के साथ अपने घर पर रहता हो।



समाज सेवा के इच्छुक शक्ति सम्पन्न बनें

भारत में धनवान की अपेक्षा चरित्रवान का ही अधिक आदर रहा है।

सुख शान्त्यर्थ कर्म, उपासना, ज्ञान तीनों उपयोगी समाज सेवा अति उत्तम कार्य है, परन्तु सेवा करने के लिये सामर्थ्य सम्पादन करना परम आवश्यक है। जब तुम अपना ही भार नहीं सँभाल पाते तो दूसरों की क्या सेवा करोगे ? जनता के दुःख को देखकर तुमने चार आँसू बहा दिये तो यह तो समाज सेवा नहीं हुई। सत्य और तप द्वारा वाणी का बल, ब्रह्मचर्य द्वारा शारीरिक और मानसिक बल तथा इष्ट की साविधि उपासना द्वारा दैवी बल सम्पादन कर, उसे निस्वार्थ भाव से, समाज सेवा में लगाओ तो उससे समाज का भी कुछ कल्याण होगा। समाज सेवकों को यही आदर्श अपने सामने रखना चाहिये।

भक्त लोग प्रायः भगवान से यही प्रार्थना करते हैं। जन्म-जन्म हम आपकी ही भक्ति चाहते हैं अर्थात् वे भगवान से मिलकर, एकरूप न होकर, भक्ति का ही आनन्द लेना चाहते हैं। किन्तु भक्त न भी भगवान से मिलकर तद्रूप होने चाहे पर भगवान उसे कैसे अलग रहने देंगे ? नदी समुद्र की शरण में जाकर चाहे कि मैं समुद्ररूप न होकर नदी ही बनी रहूँ तो यह कैसे सम्भव हो सकता है? समुद्र तो उसे अपना रूप बना ही लेगा क्योंकि एकमेव वही नदी का शरण्य है, वही नदी की

(123)

नहीं है। जिस क्षेत्र में धर्म की अवहेलना होगी वह क्षेत्र कलुषित हो जायेगा और जीवन के उस क्षेत्र में व्यक्ति अथवा समाज का पतन निश्चित है। कोई पतन में ही उत्थान की भावना कर ले तो इसे उसका दुर्भाग्य ही कहा जा सकता है। शराबी को नाली में गिर कर भी राजसिंहासन की भावना हो सकती है पर वास्तव में तो वह कीचड़ में ही सना पड़ा है।

प्रारब्ध भोग

शरीर-यात्रा की चिन्ता होने के कारण ही लोग अनुचित उपायों का अवलम्बन करते हैं। पर यह नितान्त मूर्खता है। शरीर-यात्रा तो प्रारब्धानुसार होगी। शुभाशुभ कर्मों का फल भोगे बिना शरीर का अन्त नहीं हो सकता—

‘अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्।’

अतः सुख और दुःख की प्राप्ति पूर्व कृत शुभ और अशुभ कर्मों के अनुसार स्वतः होती जायेगी, उसके लिये चिन्ता करना व्यर्थ है। करोड़ों लोग खड़े हो जायें पर हमारे भाग्य को हमारे पास आने से रोक नहीं सकते। जैसे एक सहस्र गायों में एक बछड़ा छोड़ दिया जाय तो वह निर्भ्रम अपनी माता को पकड़ लेता है वैसे ही हमारा भोग्य चाहे हम सन्यासी हों, चाहे ब्रह्मचारी अथवा और कोई, अवश्य हमें प्राप्त होगा।



धर्म का खण्डन करने वाला सबके हित का विरोधी है

धर्म-मार्ग प्रत्येक क्षेत्र में सफलता का मार्ग है समझकर उसका पालन करो, कल्याण होगा।

यह दूसरी बात है कि दस-बीस नकटे मिलकर नाक वालों को नक्कू कहने लगे पर यथार्थ में धर्म अपनाने की चीज है, छोड़ने की नहीं। जिनका या जिनके सम्पर्कियों का धार्मिक समाज में गिरा हुआ माना जाने लगा हो वे मिलकर धर्म के ही विरुद्ध आवाज उठाने लगे तो उन्हें कौन रोक सकता है किन्तु धर्म किसी की

वे अपने लिये कहते हैं—

उत्सीदेयुरिमे लोका, न कुर्या कर्मचेदहम्।

संकरस्य च कर्तास्याम्, उपहन्यामिमाः प्रजाः॥

कृष्ण के भक्तों को भगवान के इन शब्दों पर विचार करना चाहिये। अपनी मनमानी व्यवस्था करके कर्मों की उपेक्षा करना ठीक नहीं। कर्म करने से पापों का क्षालन होता है। जैसे घर की सफाई के लिये हम झाड़ू लगाते हैं वैसे ही अन्तःकरण की शुद्धि के लिये निष्काम भाव से कर्म करना चाहिये। कर्म से तात्पर्य है अपने अधिकारानुसार वेद-शास्त्रोक्त कर्मानुष्ठान—स्वधर्मानुष्ठान।

भक्ति के लिये ज्ञान भी आवश्यक है। बिना ज्ञान के भक्ति कैसे हो सकती है ? शास्त्रों के द्वारा परोक्ष-ज्ञान प्राप्त कर, भक्ति के द्वारा, उसकी अपरोक्ष अनुभूति की जा सकती है। अपरोक्ष अनुभूति ही विज्ञान है—‘विज्ञान चात्मदर्शनम्।’ जिस प्रकार भक्त कर्म और ज्ञान की उपेक्षा नहीं कर सकता उसी प्रकार कर्म और उपासना की उपेक्षा कर केवल वेदान्त की पुस्तकें पढ़कर ‘शुद्धोऽहं, विशुद्धोऽहं, अखण्डोऽहं’ की ध्वनि करने लगने से कोई ज्ञानी नहीं बन सकता। जीव जन्म-जन्मान्तरों से संसार-वासनाओं से पीड़ित चला आ रहा है। उसकी यह गरीबी कर्म और उपासना का सहारा लिये बिना, सहसा वेदान्त की पुस्तकें पढ़ने या कण्ठाग्र कर लेने से, दूर नहीं हो सकती। अतः निष्काम कर्म द्वारा अन्तःकरण की शुद्धि कर, उपासना द्वारा मन की चंचलता शान्त होने पर एकमेव परमात्मा का चिन्तन करते हुये, गुरु कृपा से, तत्व का साक्षात्कार होता है।

सर्वत्र इष्ट दर्शन

भक्तों को चाहिये कि वे सर्वत्र चराचर में अपने इष्ट का ही दर्शन करें। जब सर्वत्र अपने इष्ट को ही देखेंगे तो भेदभाव और द्वेष बुद्धि नष्ट हो जायेगी। ज्ञान उसी

को होता है जो भेदभाव और द्वेष रहित है। प्रहलाद ने अपने इष्ट को अग्नि, जल, स्तम्भ सभी में व्यापक देखा। मीरा ने सिंह में भी अपने इष्ट का दर्शन किया, तुलसीदास ने सम्पूर्ण चराचर विश्व को 'सियाराममय' देखा। यह सब आदर्श भक्त हैं। वास्तव में प्रगाढ़ भक्ति होने पर भक्त इष्ट को छोड़कर अन्य किसी को देखता ही नहीं। 'सर्व विष्णुमयं जगत्' भक्त का भाव होता है और 'सर्वखल्विदं ब्रह्म' ज्ञानी का भाव है। तत्त्वतः इन दोनों में कुछ अन्तर नहीं।

दूसरों को धोखा मत दो

परमार्थ साधना के लिये व्यवहार को तदनुकूल बनाने की आवश्यकता पर प्रकाश डालते हुए श्रीचरण ने कहा कि यदि व्यवहार बिगड़ गया तो परमार्थ भी बिगड़ जायेगा। ऐसा नहीं हो सकता कि छल-कपट, बेईमानी, धोखा-धड़ी भी करते जाओ और भगवान का भजन भी करते जाओ। दूसरों को धोखा देना वास्तव में अपने को ही धोखा देना है इसलिये चाहे धोखा खा जाओ, पर भूलकर भी दूसरों को धोखा मत दो। धोखा खाना कोई अच्छी बात नहीं, पर यदि धोखा खाना और धोखा देना इन दोनों में चुनाव करना हो तो दूसरों को धोखा देना की अपेक्षा स्वयं धोखा खा लेना अच्छा है।

प्रारब्ध भोग

शरीर यात्रा को चिन्ता होने के कारण ही लोग अनुचित उपायों का अवलम्बन करते हैं। पर यह नितान्त मूर्खता है। शरीर-यात्रा तो प्रारब्धानुसार होगी ही। शुभाशुभ कर्मों का फल भोगे बिना शरीर का अन्त नहीं हो सकता।

'अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्।

अतः सुख और दुःख की प्राप्ति पूर्वकृत शुभ और अशुभ कर्मों के अनुसार स्वतः होती जायेगी, उसके लिये चिन्तन करना व्यर्थ है। करोड़ों लोग खड़े जायें पर

हमारे भाग्य को हमारे पास आने से रोक नहीं सकते। जैसे एक सहस्र गायों में एक बछड़ा छोड़ दिया जाय तो वह निर्भय अपनी माता को पकड़ लेता है। वैसे ही हमारा भोग्य चाहे हम सन्यासी हों चाहे ब्रह्मचारी अथवा और कोई, अवश्य हमें प्राप्त होगा।



धर्म इन्द्रियों पर नियंत्रण करता है

इसलिये इन्द्रियों के गुलाम धर्म को हौआ समझते हैं।

(धर्म सम्राट श्री भगवान् शंकराचार्य की स्पष्टीकित)

प्रयाग— मातृवत् परदारेषु परद्रव्याणि लोष्ठवत्।

आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति स पश्यति।।

दूसरे की स्त्री को माता के समान समझो, दूसरे के धन को अपने लिये निरर्थक मिट्टी-पत्थर के समान मानो और समस्त भूत प्राणियों को अपनी आत्मा के समान समझो—यही तो धर्म सिखलाता है। इसमें कौन सी खतरनाक बात है ? ऐसा होने से ही तो समाज में सुव्यवस्था और सद्भावना का संचार हो सकता है। पर जिन्हें अनाचार, पापाचार, भ्रष्टाचार फैलाना है, जिनका इन्द्रियों पर अधिकार नहीं है ऐसे इन्द्रियों के गुलाम लोग धर्म को हौवा समझते हैं।

श्रोताओं को उपदेश करते हुए भगवत्पूज्यपाद ने आगे कहा कि—

धर्म रक्षक है, भक्षक नहीं। किन्तु जिनको दूसरों पर छापा मारना है, जिन्हें पर-स्त्री, पर-धन और पर-सत्ता का अपहरण करना है उन्हें वह अवश्य ही भयानक लगता है। चन्द्रमा की चाँदनी सबको प्रिय लगती है, पर चोर को वह अच्छी नहीं लगती। चाँदनी को चोर बाधक ही समझता है। इसी प्रकार उन लोगों की दशा है जो धर्म को उन्नति में बाधक मानते हैं।

सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक आदि जीवन के किसी क्षेत्र में धर्म घातक

आदि की बिगड़ी बन जाती है, पर अन्त की बिगड़ी नहीं बनती

परमगति को कौन प्राप्त होता है, यह बतलाते हुए भगवान कहते हैं—

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्ता कलेवरम् ।

यः प्रयाति त्यजन्देहम य याति परमां गतिम् ॥

अर्थात् अन्त में जो मेरा स्मरण करता हुआ शरीर छोड़ता है वह परमगति को प्राप्त होता है ।

अन्त न बिगड़ने पाये, ऐसा प्रयत्न अभी से करो । अभी से भगवान के भजन का अभ्यास रहेगा तभी अन्त समय में उसका ध्यान रह सकता है । इस समय यदि आपकी बुद्धि में संसारी व्यवहार प्रधान रहेगा तो अन्त समय में भी उसी का ध्यान रहेगा । इसलिये अभी से सतर्क होकर स्वधर्मानुष्ठान पूर्वक भगवान का स्मरण करते चलो ।

आदि में जो हुआ, सो हुआ पर अब अन्त को सुधारने के लिये प्रयत्न करो । क्योंकि अन्त में यदि धोखा हुआ तो फिर जन्म-जन्मान्तरों तक के लिये घाटा हो जायगा । आदि की बिगड़ी तो बन जाती है, पर अन्त की बिगड़ी नहीं बनती इसलिये अभी से सतर्क रहो ।



सतर्क रहो—कोई श्वास भगवत् चिन्तन से खाली न जाये

क्षण-क्षण करके आयु बीती जा रही है । सचेत रहो । ऐसा अभ्यास कर लो कि हर समय भगवान का चिन्तन होता रहे । भगवान का चिन्तन बना रहेगा तो लोक में भी सुख-शान्ति बनी रहेगी और परलोक में भी आनन्द रहेगा । यदि व्यवहार में फँसे

सुख-शान्ति और सफलता का बाधक नहीं—धर्म मार्ग ही जीवन-क्षेत्र में सुख-शान्ति और सफलता का मार्ग है । धर्म की अवहेलना करने वाला अपने कल्याण से मुख मोड़ने वाला है और धर्म का खण्डन करने वाला सबके हित का विरोधी है ।

धर्म तुम्हारा भक्षक नहीं, वह सदा तुम्हारा रक्षक है । यह तुम्हारी मर्यादा बनाता है । माता, पिता, कन्या, भगनी, गुरु, इष्ट मित्र आदि से पृथक्-पृथक् कैसा व्यवहार होना चाहिये—यह धर्म ही बताता है ।

इसके अतिरिक्त आँख, कान, नाक, हस्त, पाद आदि इन्द्रियों का कहाँ कितना उपयोग होना चाहिये और मन, बुद्धि, अहंकार आदि का कैसे कहाँ किस अंश में व्यवहार होना चाहिये जिससे लोक में अशान्ति न फैले और परलोक में उत्तम गति हो—यही तो धर्म सिखाता है । जो लोग धर्म की अवहेलना कर रहे हैं वे लोक में भी अशान्ति भोग रहे हैं और आगे के लिये भी अपना मार्ग अन्धकारमय बना रहे हैं ।



महिलायें आज भी धर्म की मूर्ति हैं

आज भी भारतीय महिलाओं को अपने प्राचीन आदर्शों पर गर्व है और आज भी वे अपनी मर्यादाओं का पालन करने में ही आनन्द का अनुभव करती हैं । स्त्रियों के लिये सतीत्व धर्म पुराने जमाने की बात है—यह कहने वाले भारत की वास्तविकता से अनभिज्ञ हैं । अधिकांश घरों की माता बहनें सीता सावित्री के आदर्शों को ही अपना आदर्श मानती हैं और उसके अनुसार चलने में ही अपना सर्वविध कल्याण मानती हैं । पुरुषों की आधुनिक विचारधाराओं आदि के कारण अवश्य ही इस लोगों को अपने उच्च आदर्श पालन करने में कहीं-कहीं कठिनाई पड़ती है, किन्तु इसके लिये पुरुषों की गिरती हुई भावनायें ही जिम्मेदार हैं । गिरे हुए धर्म, कर्महीन पुरुषों के सम्पर्क में आई हुई कुछ नये रंग में रंगी 'तितलियाँ' ही भारतीयता के उच्च

आदर्शों से फिसल रही हैं, किन्तु यह उनके लिये पतन का हेतु और समाज के लिये अभिशाप है।



हमारा सिद्धान्त एक देशीय नहीं, व्यापक है

अच्छाई चाहे जिस वर्ग की हो, उसे हम मानते हैं। बुराई किसी भी वर्ग की स्वीकार नहीं कर सकते। वेद-शास्त्रोक्त सिद्धान्त में तो हमारा पूरा अधिकार है, वह तो हमारा 'मुसल्लम मौजा' है—उसमें हमारा पूरा सोलहों आना अधिकार है और जो दूसरे मत हैं उनमें जितनी बातें वेद-शास्त्र से मिलती हैं, उतनी सबको हम मानते हैं। हमारे वैदिक सिद्धान्त की कुछ-न-कुछ बातें तो हर एक मत में हैं ही, इसलिये प्रत्येक मत में हमारा कुछ-न-कुछ अधिकार है। हम अपने उस अधिकार को नहीं छोड़ सकते, चाहे उस मत अनुयायी हम से सम्बन्ध रखें या न रखें।

किसी मत में हमारा दो आना अधिकार है तो किसी में चार आना है, किसी में दो पाई है। जहाँ हमारा एक आना हिस्सा है वहाँ हम प्रयत्न करते हैं कि चार आना हो जाय तो अच्छा जहाँ जितनी हमारी वैदिकता है उसी के कारण हम उन मतों के अनुयायियों का भी कल्याण चाहते हैं।

आगे श्रीचरण ने अपना और धार्मिक संस्थाओं का सम्बन्ध बताते हुए कहा कि संस्थायें कोठरी के समान हैं और हमारी स्थिति हॉल (बड़े कमरे) में है। जो कोठरियाँ हमारे हॉल से लगी हुई हैं उनमें हम प्रकाश देते हैं, पर हम ऐसा नहीं करते कि हाल से उठकर कोठरी में बैठ जायँ। इसलिये धार्मिक संस्थाओं का हमारा सम्बन्ध होते हुए भी सब अपने क्षेत्र में कार्य करती हैं।



(130)

हम औषधि देते हैं और पथ्य बतलाते हैं

संसार में सुख व शान्ति की प्राप्ति और जन्म मरण रूपी भवरोग की सदा के लिये के लिये निवृत्ति के लिये औषधि है 'भगवान की उपासना' और उसका पथ्य है 'सदाचार सद्दिचारपूर्वक स्वधर्मानुष्ठान' औषधि खाई जाय और पथ्य का सेवन न किया जाय तो समुचित लाभ नहीं हो सकता। औषधि से पूरा लाभ उठाने के लिये पथ्य का पालन आवश्यक है। यह निश्चय रखो कि जाना यहाँ से अवश्य है, इसलिये यहाँ के प्रबंध और यहाँ के कामों में अपना सारा समय न व्यतीत कर दो। अपने योग्य उचित कार्यों को करो कि जिससे बुद्धि मलिन न होने पावे और भगवत्परायण रहकर समय बिताओ।

यदि अपने व्यवहारिक जीवन में पवित्रता न रखी तो भगवान की उपासना भी जो कुछ करोगे वह पूरा फल न देगी—कुपथ्य के साथ औषधि सेवन का जो फल होता है वही होगा। इसलिये हमारे यहाँ औषधि भी दी जाती है और उसका पथ्य भी बतलाया जाता है। पथ्यरूप वेदशास्त्रानुसार व्यवहार संचालन की उपेक्षा जहाँ की जाती है वहाँ कुछ सिद्धि नहीं होती। इसलिये भगवान ने सचेत करते हुए कहा है—

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।

न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवास्थितौ।

ज्ञात्वा शास्त्र विधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि॥

(गीता)



(131)

जब भक्त भगवान की तरफ झुकता है तो भगवान भी, स्वाभाविक रूप से, भक्त की ओर आकृष्ट होते हैं— भगवान का स्वभाव है—

“ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजनाम्यहम् ।”

अर्थात् जो मुझे जैसा भजता है वैसा मैं भी उसको भजता हूँ। भगवान के इस स्वभाव का और अधिक स्पष्टीकरण करते हुए महाराज श्री ने कहा कि एक बार युधिष्ठिर ने देखा कि भगवान कृष्ण ध्यानावस्थित बैठे हैं। जब भगवान ध्यान से उठे तो युधिष्ठिर ने पूछा कि आप स्वयं सबके आराध्य हैं आप किसका ध्यान कर रहे थे। भगवान ने कहा युधिष्ठिर इस समय भीष्म जी बाण शय्या पर पड़े हुए मेरे ध्यान में लीन थे इससे मैं भी उनका ध्यान कर रहा था।

भगवान के इस स्वभाव के कारण लक्ष्मी घबराती है और जब कोई भक्त भगवान के तरफ अधिक झुकता है तो वह उसे चाँदी, सोने के जूते से पीटती है। भक्त को ही भगवान की तरफ बढ़ने में बाधा डालने के लिये, उसके पास अनेक रूपों में धन, धान्य, मानप्रतिष्ठा आदि भेजती है जिससे भक्त इन्हीं में पड़ जाय और किसी तरह भगवान को छोड़ दे या उनमें उसका राग कम हो जाये। यह सदा से महात्मा का अनुभव रहा है। इसलिये उपासकों को सतर्क रहना चाहिये लक्ष्मी के जाल में न फँसकर भगवान की ओर अधिकाधिक बढ़ना चाहिये। यही मनुष्य जीवन की सार्थकता है।

ज्ञानी ही भक्त हो सकता है, जो भक्त है वही ज्ञानी है
परमात्मा के वियोग का ही फल है कि नाना दुःख भोग रहे हो
मरना तो है ही, ऐसा करके मरो कि फिर जन्म न हो

(136)

रहकर एक-एक दिन गवाँ दिया तो फिर जब होश आयेगा तभी पश्चाताप करोगे। एक-एक क्षण का सदुपयोग नहीं करोगे तो सारा समय यों ही चला जायेगा। बूँद-बूँद करके घड़ा खाली हो जाता है। श्वास-श्वास में आयु बीती जा रही है। सतर्क रहो कि कोई श्वास भगवान के स्मरण से खाली न जाय।

तत्कथनं तच्चिन्तनं अन्योन्यं, तत्प्रबोधनम् ।

एतदेकपरत्वं च ब्रह्माभ्यासं विदुर्बुधाः ॥

भगवान के सम्बन्ध में ही प्रार्थना स्तोत्रपाठ और उनकी लीलाओं का कथन, उनके स्वरूप का चिन्तन और उन्हीं के संबंध में परस्पर वार्तालाप ये ही निरन्तर होते रहें यही अभ्यास का स्वरूप है। इसी को भगवान ने कहा है—

“मच्चित मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम् ।

कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ।”

(गीता 10/9)

मुझमें चित्त दिये हुए, प्राणों को भी मुझमें लगाये हुए—अर्थात् श्वास-श्वास में मेरा स्मरण करते हुए और मेरा ही यश गान करते हुए भक्तजन मुझमें रमण करते रहते हैं और मुझ परायण होकर सन्तुष्ट होते हैं।

अनन्य भक्ति

अपना इष्ट सर्वत्र व्यापक सदा एक रस है। वही समय-समय पर भिन्न-भिन्न रूपों में आता है। प्रधान पर्वों पर जब जिस देवता की प्रधानता हो, उस दिन उसी देवता में, अपने इष्ट की आराधना करना उचित है।

(133)

नास्तिकों की बातों का बुरा नहीं मानना चाहिये

दुर्जन के लिये दुर्जन मत बनो

यदि कोई परमात्मा के विरुद्ध बोले, वेद-शास्त्र का खण्डन करे या किसी साधु-महात्मा या पूज्य जनों की निन्दा करे तो उसका उत्तर सज्जनता के साथ ही देना चाहिये। दुर्जन के लिये दुर्जन बन जाने से उसके पक्ष की वृद्धि होती है— इसलिये दुर्जन के वाक्यों का उत्तर सज्जनता के साथ दो। यदि तुम में भी तमोगुण आ गया तो तुम भी उस नम्बर के दुर्जन नहीं बन सकोगे क्योंकि वह पुराना दुर्जन है और तुम नये बनोगे इसलिये उसकी नीति से उसे परास्त करना कठिन पड़ेगा, क्योंकि तुमको दुर्जन बनते-बनते समय लेगा और वह दक्ष दुर्जन है। इसलिये दुर्जनों की दुर्जनता का अपनी सज्जनता से सामना करना ही उचित है। अच्छा तो यह है कि व्यवहार में ऐसा वरतो कि दुर्जनों को अपनी चालें चलने का मौका ही न मिले। इसके लिये—“दुर्जनं प्रथमं वन्दे” की नीति अच्छी रहती है। अपनी सज्जनता से इन लोगों को दबाये रखना चाहिये। पर फिर भी यदि ये सामने आ ही जायँ तो कह दो कि—

“ददतु ददतु गालीन

गालिवन्तो भवन्तः ।”

आप खूब गालियाँ बकें क्योंकि आप गालीवन्त (गाली वाले) हैं, जो आपके पास है वही तो आप देंगे। आप अपनी बुद्धि के अनुसार ठीक ही कर रहे हो। यह कहते हुए भगवान् शंकराचार्य महाराज ने कहा कि यह हमारे गुरुजी का आदेश था कि कोई अपमान करे तो तीन बार तक सहन करना चाहिये और यदि फिर भी करता जाय तो समझ लेना चाहिये कि यह पागल है। पागल क्या नहीं कर सकता—पागल की बातों का कोई बुरा नहीं मानता।

(134)

राग द्वेष छोड़ो

राग द्वेष के कारण ही व्यक्ति ऐसे अनर्थ कर डालते हैं जिससे इस लोक और परलोक दोनों में उन्हें घोर यातनायें भुगतनी पड़ती हैं। राग द्वेष पर विजय पाना असम्भव नहीं है परन्तु इसके लिये दृढ़ अभ्यास की आवश्यकता है। अभ्यास करते हुए फिसलने के अनेक अवसर आते हैं पर उसी समय अपने को संभालने की चेष्टा करनी चाहिये।

यदि राग को ही हम ठीक कर लें तो फिर द्वेष के लिये स्थान नहीं रहेगा। सर्वोत्कृष्ट रागास्पद तो परमात्मा ही है, वही सत्य है, वही आनन्द है। जगत तो रञ्जू में सर्प की भाँति उसी परमात्मा में अज्ञानमूलक कल्पना के कारण भासित होता है। वस्तुतः वन्ध्यापुत्र की भाँति जगत का ऐसा दृढ़ विश्वास हो जाने के कारण ही महात्मा लोग सर्वत्र एक अद्वैत परमात्मा का ही दर्शन करते हैं।

भक्त भगवान की ओर चलता है तो

लक्ष्मी भक्त की ओर चलती है

अतीत काल से महात्माओं का प्रत्यक्ष अनुभव, आचार्यचरण ने, साधकों को होने वाले दैवी विघ्नों का स्वरूप बतलाते हुये, इस बात पर विशेष जो दिया कि माया की शक्ति अपने जड़ और चैतन्य दोनों रूपों में आकर विघ्न उपस्थित करती है। इनका समागमन इस स्वाभाविक ढंग से होता है कि यदि साधक सावधान न रहे तो पहले पता नहीं चल सकता कि यह हमारे मार्ग का विघ्न है, इसलिये जड़ और चैतन्य माया दोनों से भक्तों को बड़ा ही सावधान रहना चाहिये।

लक्ष्मी भगवान की पत्नी है। स्त्री और सब सहन कर सकती है पर वह कदापि नहीं सह सकती कि उसका पति और किसी को उनसे अधिक प्रेम करे। इसलिये

(135)

स्वामी और सेवक का आदर्श

भगवान राम और भरत के प्रसंग में स्वामी और सेवक का आदर्श भाव भी समझ लेना चाहिये। भरत जी जब रामचन्द्रजी के पास समस्त अयोध्यावासियों सहित चित्रकूट में पहुँचते हैं तो रामचन्द्रजी ने यही कहा कि जो भरत कहेंगे मैं वही करूँगा। सब लोगों ने सोचा कि यह तो भरत जी के मन की ही बात हुई।

भरत जी भगवान को लेने के लिये तो आये ही हैं और भगवान भी उन्हीं के कहने के अनुसार करने को हैं। यही तो सब लोग चाह रहे हैं। किन्तु भरत ने सोचा कि अब हमें क्या करना उचित है ? बहुत सोचने पर भी भरत को कुछ समझ में नहीं आया कि क्या भगवान से कहें ? अन्त में उन्होंने यही कहा कि भगवान आप परम स्वतंत्र हैं जो मुझे आज्ञा करें वही मैं करूँ। **यह है स्वामी सेवक का भाव।** भरत ने सोचा कि मैं सेवक हूँ स्वामी को कर्तव्य क्या निर्देश करूँ। अपने ही लिये आज्ञा लेना ठीक है। इतना ऊँचा भाव भरत का था।

यही कारण था कि जब हनुमान कोई बड़ा कार्य करते थे, तो भगवान राम उनसे कहते थे कि भरत के समान कार्य किया। हनुमान सोचते थे कि भरत क्या ऐसी सेवा करते हैं जो भगवान उन्हीं का आदर्श सामने रखते हैं। जब हनुमान संजीवनी मूल लेकर पहाड़ उठाकर अयोध्या के ऊपर से निकले तब उनके मन में आया कि चलें भरत जी को देखते चलें। उसी समय भरत ने देखा कि कोई पहाड़ लिये दक्षिण की ओर उड़ा चला जा रहा है। उन्होंने उसे कोई राक्षस समझकर एक बाण मारा। हनुमान राम-राम कहते हुए नीचे पृथ्वी पर आ गिरे। भरत ने नाम का शब्द सुना।

सोचा कोई भगवान का भक्त है। हनुमान के निकट आये। सब समाचार पूछा, हनुमान ने सब वृत्तान्त सुनाया कि लक्ष्मण को शक्ति लगी है। उन्हीं के लिये यह संजीवनी मूल लेकर जा रहा हूँ। भरत जी ने कहा कि मेरे बाण पर बैठ जाइये अभी आप भगवान के पास पहुँच जावेंगे। तब हनुमान को भरतजी की निष्ठा का

संसार में चार प्रकार के मनुष्य होते हैं ज्ञानी, जिज्ञासु, विषयी और पामर। पामर वे हैं जो वेद-शास्त्र की बात नहीं मानते, मर्यादा का पालन नहीं करते और जैसी इच्छा होती है वैसा ही मनमाना करते हैं। पामरों की संख्या अधिक है। विषयी वह है जो शास्त्रानुसार विषय का अनुभव करते हैं। पामरों से विषयी लोग बहुत उच्चकोटि के होते हैं क्योंकि वेद-शास्त्र की मर्यादा को मानते हैं और अधिकारानुसार ही इनकी विषयों में प्रवृत्ति होती है। विविधपूर्वक जो विषय का उपभोग करते हैं उन्हें विषयी कहते हैं।

विषय भोग करना ही है तो शास्त्रानुसार ही करना चाहिये। किसी की सन्तान की इच्छा हो तो विधिपूर्वक सन्तान उत्पन्न करना चाहिये।

सत्कुल में विवाह करके गर्भाधान आदि संस्कार उचित रूप से कराये जायँ तो जो सन्तान होगी वह बलवान और बुद्धिमान होगी। शास्त्रानुसार संस्कार कराने से संस्कृत अर्थात् पवित्र और उत्तम गुणवान सन्तान होती है। यह तो आप लोग समझते ही हैं कि औषधि में भावना देने से उसका गुण बढ़ता है। आँवले के चूर्ण में आँवले के रस की भावना दी जाती है तो जितनी ही अधिक भावनायें दी जायँ उतना ही उच्चकोटि का रस तैयार हो जाता है। बाहर से उसमें कोई चीज नहीं मिलाई जाती परन्तु संस्कार से ही कीमत बढ़ जाती है। संस्कारों के द्वारा उच्चकोटि की सन्तान माता-पिता की भक्त होगी और पिंडोदक क्रिया की अधिकारी बनेगी।

पहले के लोगों को अपने **वीर्य का विश्वास था**। दशरथ ने कैकेयी के साथ विवाह के समय उसकी शर्त मान ली कि जो उसके उदर से सन्तान उत्पन्न होगी वही राज्य की अधिकारी बनेगी। दशरथ ने सोचा कि इस समय कैकेयी जो कह रही है उसको मानने में कोई हानि नहीं क्योंकि यदि कैकेयी के उदर प्रथम सन्तान

उत्पन्न हुई तब तो वह न्यायतः राज्य की अधिकारी होगी और यदि इसके पहले कोई सन्तान हुई तो ज्येष्ठ भ्राता के रहते हुए वह कैसे राज्य करने की इच्छा करेगा, हमारे वीर्य से उत्पन्न हुई सन्तान अन्याय कैसे करेगी ? इसी विश्वास पर उन्होंने कैकेयी की शर्त मान ली और फिर अन्त में हुआ भी वही जैसा दशरथ का विश्वास था।

भरत ने राम के समक्ष राज्य स्वीकार नहीं किया। पहले के लोगों को इतना अपने वीर्य पर विश्वास रहता था। अब तो लड़के होते हैं उन्हें पढ़ाया लिखाया जाता है बड़े हो जाते हैं फिर भी माता-पिता को विश्वास नहीं होता कि जैसा वो चाहें वैसा लड़के करें। इसका **मूल कारण हे विधि-विधान से संस्कारों का न होना।**

कैकेयी और राम के प्रसंग में एक बात और विशेष ध्यान देने योग्य है। वह यह है कि जिस समय राम बन जाने के लिये तैयार हुए उस समय वे अपनी माता कौशल्या को प्रणाम करने गये। कौशल्या ने कहा यदि महाराज चक्रवर्ती ने ही बन जाने की आज्ञा दी है तब तो मैं तुम्हे रोक सकती हूँ किन्तु यदि कैकेयी ने भी कर दिया है तब तो मैं तुम्हें नहीं रोक सकती। कौशल्या धर्मशास्त्र से परिचित थीं और **माता का अधिकार** जानती थीं।

पितुर्दशगुणा माता गौरवेणातिरिच्यते।

मातुर्दशगुणामान्या विमाता धर्मेभीरुणः॥

सन्तान के लिये माता का दर्जा पिता से दशगुणा अधिक है और धर्मभीरुओं को, माता से विमाता (सौतेली माँ) को दशगुणा अधिक आदर देना चाहिये। इसीलिये जब कैकेयी ने आज्ञा दे दी तब कौशल्या ने सोचा अब तो मेरे अधिकार के बाहर बात चली गई। इतना अधिक सम्मान सौतेली माँ को दिया गया है। आजकल तो चाहे विमाता कितनी ही सती साध्वी हो परन्तु उसे दुश्मन ही मानते

(138)

हैं लोग। यह केवल शास्त्र से अनभिज्ञ होने का ही फल है।

दशरथ के प्रसंग में एक बात और यह भी समझ लेनी चाहिये कि दशरथ का अर्थ होता है दशों इन्द्रियों का स्वामी। आप लोग सब दशरथ हैं। दशों इन्द्रियाँ आपके पास हैं। पंच ज्ञानेन्द्रियाँ और पंच कर्मेन्द्रियों के आप स्वामी हो। दशरथ का जब मरण हुआ तब भरत के आने तक उनका शरीर मसाले और तेल में रक्खा गया। आप लोग सब दशरथ हैं और भरत हैं ज्ञान 'भ' दीप्तौ धातु से भरत बनता है। उसका अर्थ होता है ज्ञान। तात्पर्य यह है कि **जब तक ज्ञान न प्राप्त न हो** तब तक शरीर की रक्षा करना आवश्यक है। बिना ज्ञान के सूक्ष्म शरीर का अन्त नहीं होता। (भरत के आने पर अर्थात्) ज्ञान के हो जाने पर सूक्ष्म शरीर की अन्त्योष्टि हो जाती है। जब तक सूक्ष्म शरीर नष्ट नहीं, होता तब तक जन्म मरण से छुटकारा नहीं मिल सकता क्योंकि सूक्ष्म शरीर का ही गमनागमन होता है। 'स्थूल देह विसर्जनी मरणावस्था भवति' यह जो स्थूल देह का विसर्जन मरण कहा जाता है वह वास्तव में मरणावस्था नहीं है। **मरण तो वास्तव में वही है कि फिर जन्म न हो।**

लिंग शरीर (सूक्ष्म शरीर) का नाश हुए बिना वास्तव में मरण नहीं हो सकता। मनुष्य शरीर में ही वास्तविक मरण हो सकता है। मनुष्य ही ज्ञान प्राप्त करके सूक्ष्म शरीर को भस्म कर सकता है और ज्ञानाग्नि में अपने सूक्ष्म शरीर को दग्ध करके आवागमन से छुटकारा पा सकता है।

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन।

ज्ञानाग्निः सर्व कर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा॥

(गीता 4/37)

जिस प्रकार प्रज्ज्वलित अग्नि ईंधन को भस्म कर देता है उसी प्रकार ज्ञानाग्नि समस्त संचित कर्मों को भस्म कर देती है। **इसलिये ज्ञानाग्नि उत्पन्न करने का प्रयत्न करो।**

(139)

उत्तमा तत्त्व चिन्तैव मध्यम शास्त्र चिन्तानम् ।

अधमा मंत्र चिन्ता च तीर्थाटन मधमाधमम् ।।

आत्मचिन्तन को भगवत्प्राप्ति का सर्वोत्तम साधन बतलाया गया है, शास्त्र चिन्तन को मध्यम माना गया है, मन्त्र चिन्तन को अधम और तीर्थाटन को अधमाधम कहा गया है जिससे कुछ भजन, पूजन या अध्यात्म शास्त्र चिन्तन न हो सके वह तीर्थाटन करें।

तत्व चिन्तन को भगवान की प्राप्ति का सर्वोत्तम साधन कहा गया है। परन्तु तत्वाचिन्तन सद्गुरु की कृपा से प्राप्त होता है। कहा गया है कि—

दुर्लभो विषय त्यागो, दुर्लभं, तत्त्व दर्शनम् ।

दुर्लभा सहजावस्था सद्गुरोः कुरुणां विना ।।

सद्गुरु की कृपा के बिना विषय वासनाओं का त्याग, परमात्मा-तत्व का अनुभव और सहजावस्था अर्थात् इष्ट में वृत्ति लीन होकर देह गेह का विस्मरण हो जाना दुर्लभ है। सहजावस्था प्राप्त करना हो तो सद्गुरु की आवश्यकता है। बिना सद्गुरु के ज्ञान की प्राप्ति सम्भव नहीं। भगवान ने गीता में कहा है—

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।

(गीता 4.38)

ज्ञान के समान और कोई दूसरी पवित्र वस्तु नहीं है। ज्ञान को इतना महत्व इसलिये दिया गया है कि ज्ञान से ही संचित कर्मों का नाश होता है और इसी से सूक्ष्म शरीर ध्वंस होकर गमनागमन के चक्कर से मुक्त हो जाता है। वह ज्ञान किसे प्राप्त होता है यह बताते हुए भगवान ने कहा है—

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः ।

(गीता 4.39)

(144)

पता चला कि भरत भी भगवान के अनन्य भक्त हैं। स्वामी के कई सेवक होते हैं, किसी पर उसकी अधिक दृष्टि हो तो सेवक को मलाल नहीं होना चाहिये।



गुरु शिष्य के बीच का भाव भी होता है

किसी शिष्य को गुरु अधिक माने तो दूसरों को यह नहीं सोचना चाहिये कि मेरा स्थान ले लेगा। गुरु या माता-पिता सोच समझकर अधिकारी को ही वस्तु देंगे। परस्पर भ्रम पैदा कर के एक-दूसरे के प्रति ईर्ष्या द्वेष उत्पन्न करना उचित नहीं।

भरत के प्रसंग में बात यह भी है कि भरत जब सेना सहित, समस्त अयोध्यावासियों के साथ, प्रयाग में भरद्वाज के आश्रम में पहुँचे हैं तब भरद्वाज ने उनका जो स्वागत किया है उसका वर्णन बाल्मिकी ने रामायण में किया है कि जो वस्तु लोगों को अयोध्या में दुर्लभ थी वह महर्षि के आश्रम में प्रचुरता से प्राप्त हुई। कारण यह था कि भरद्वाज के आश्रम में ऋद्धियाँ-सिद्धियाँ उन सबका स्वागत कर रही थीं, वहाँ कोई लौकिक आधार था ही नहीं इसलिये जो जिसकी इच्छा हुई वही उसे दिया गया। आजकल लोगों को रिद्धियों-सिद्धियों का विश्वास नहीं रह गया है। इसलिये महात्माओं के यहाँ कोई विचित्रता देखते हैं तो आश्चर्य करते हैं। परन्तु यदि महात्मा मानते हो तो आश्चर्य का प्रश्न ही नहीं उठता। जब तक असाधुताई का लक्षण न दिखे तब तक साधु क्यों न माना जाय। महात्माओं में परस्पर मिलान का कोई प्रश्न ही नहीं उठता, अपना-अपना रहन-सहन अलग होता है। लखनऊ में ही हजारों महात्मा आये होंगे। हम भी आये हैं। अब यदि आप लोग किसी से हमारा मिलान करो तो कैसे मिलान बैठेगा ? महात्मा लोग सदा से अर्थ-धर्म काम मोक्ष देने में समर्थ रहे हैं। बकरी, ऊँट का कोई क्या मिलान करेगा ? ऊँट के गले में कितनी ही बकरियाँ लटक जायेंगी। महात्माओं का स्थान देने का

(141)

स्थान रहा है। आजकल लोग जब दरिद्रों के साथ मिलान करते हैं तब तो आश्चर्य ही होता है कि उनका खर्चा कहाँ से चलता है ? हम पूछते हैं कि क्या आप लोग सबकी डायरी रखते हो कि किसका खर्चा कैसे चलता है ? जब तक हम किसी से नहीं लेते तब तक समझो कि हम अपने बल से चलाते हैं और जब लेने लगे तो समझ लेना कि भिक्षुक हैं, इसमें बात ही क्या है ?

लोग कहते हैं कि हमारी तो इच्छा भी है कि भजन पूजन करें परन्तु **अवकाश नहीं मिलता**। इस पर हमें यही कहना है कि थोड़ा सा विचार कर लेने पर आपको अवकाश ही अवकाश दिखने लगेगा। संसार के जितने कार्य हैं सब तन और धन से होता है, मन की आवश्यकता नहीं पड़ती। स्त्री, पुत्र, इष्ट, मित्र आदि सब ही या तो तुम्हारा तन चाहते हैं या धन, मन कोई नहीं चाहता, मन तो तुम जबरदस्ती उनके गले लगाते हो। अपने पुत्र या स्त्री को बैठाकर कहो कि हम तो मन से तुम्हें मानते हैं, वे यही कहेंगे कि मन आप अपने पास रखें, हमारी आवश्यकताओं की वस्तुएँ हमें दें। संसार अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति चाहता है। आपके मन की उसे आवश्यकता नहीं है।

जिस मन को संसार नहीं चाहता वही मन परमात्मा के निकट जाने में काम आता है और जिस तन और धन से व्यवहार चलता है वह तन और धन परमात्मा के यहाँ बेकार है। इसलिये तन, मन, धन का विभाग कर लो। तन और धन से व्यवहार चलाओ और मन से परमात्मा का चिन्तन करो। तो व्यवहार परमार्थ दोनों उत्तम रहेगा। यदि कोई शंका करे कि बिना मन के सहयोग के व्यवहार कैसे चल सकता है तो उस पर हमारा कहना है कि जिस बात का अभ्यास हो जाता है उसके लिये मन के सहयोग की विशेष आवश्यकता नहीं पड़ती। इन्द्रियों के द्वारा वह कार्य होता रहता है और मन दूसरी बातों का चिन्तन करता है। गीता रामायण भागवत या

कोई स्तोत्र वाणी के द्वारा पाठ होता रहता है और मन इधर-उधर की बातें विचारता रहता है। तात्पर्य यह है कि अभ्यस्त कार्य बिना मन के संयोग के भी होता रह सकता है। आपको जगत का व्यवहार अनेकों जन्मों का अभ्यस्त है। समस्त इन्द्रियों को अपने अपने विषयों को ग्रहण करने का बड़ा पुराना अभ्यास चला आ रहा है। इसलिये थोड़े से पेट्रोल से गाड़ी स्टार्ट कर देने से फिर वह आगे चलती जायेगी। अर्थात् थोड़ा सा मनोयोग देकर कार्य प्रारम्भ कर देने से व्यावहारिक कार्य चलते रह सकते हैं, अधिक मन फँसाने की आवश्यकता नहीं है। **व्यवहार में जितना अधिक मन फँसाओगे उतनी ही अधिक अशान्ति और परेशानी भोगोगे।** सांसारिक कार्य तुम्हारे परेशान होने से पूरे नहीं होंगे। वे तो तुम्हारे भाग्यानुसार अपने को डालकर अशान्ति भोगते हो। जो कार्य होना है बस अपने आप होते जायेंगे, व्यर्थ ही तुम उलझन में अपने आप को डालकर अशान्ति भोगते हो जो कार्य होना वह अपने समय पर पूरा होता जायेगा। **इसलिये व्यवहार में तन और धन को लगाओ और मन को परमात्मा के चिन्तन में लगाओ तो यहाँ का जीवन सुखमय बनेगा और आगे भी आनन्द रहेगा।**

उपासना के सम्बन्ध में यह बात है कि जब तक भगवान को अपने अन्दर ही नहीं ढूँढोगे तब तक काम बनेगा नहीं। बद्दीनाथ जाओ, रामेश्वर जाओ, सर्वत्र भगवान की खोज करो परन्तु जब तक अपने अन्दर ही भगवान को मानकर उपासना नहीं करोगे तब तक भगवान की निकटता का अनुभव होना कठिन है। जब हमारा इष्ट सर्वत्र चराचर में विराजमान है तो हम उसको निकट से निकट क्यों न देखें ? अपने हृदय में ही उसका ध्यान करें तब तो वह सदा हमारे निकट रहेगा और यदि हम उसको अपने हृदय में न मानकर बाहर तीर्थों में या प्रतिमाओं में ही मानें तो वह हमसे दूर ही रहेगा। इसीलिये कहा गया है कि—

ठीक धर्म का बोध हो जाय तो कभी न खण्डन करें। आश्चर्य तो यह है कि खण्डन करने चलते हैं पर जिसका खण्डन करते हैं उसका स्वरूप नहीं जानते। बिना स्वरूप समझे खण्डन करना या मण्डन करना दोनों बेवकूफी है। आश्चर्य है कि जिस चीज को समझते नहीं उसमें दखल देते हैं।

एक समय मैं अयोध्या में था तो वहाँ के म्युनिसिपल चेयरमेन कुछ आदमियों को साथ लेकर आये। उन्हीं में से एक ने कहा कि चेयरमेन साहब कहते हैं कि रोटी बेटी से धर्म का कोई सम्बन्ध नहीं है। हमने उनसे पूछा कि सम्बन्ध तो रिश्तेदारी को कहते हैं। पहले आप बताइये कि **धर्म का स्वरूप क्या है ?** पहले धर्म को बताओ कि वह कैसा है, हरा, पीला, लाल, नीला, पतला, मोटा कैसा है ? वे अंग्रेजी के पंडित थे, धर्म के सम्बन्ध में कुछ समझते तो थे नहीं हाथ जोड़कर कहने लगे कि महाराज ! मैं आपका बालक हूँ, आर्य समाजी नहीं हूँ। हमने कहा—आर्य समाजी नहीं हो तो बन जाओ। आर्य समाजियों के प्रश्न करने लगो, आर्य समाजी बन जाओगे। प्रश्न से ही तो किसी समाज का पक्ष होता है। ऐसा कहकर हमने कहा कि तुम्हारे जैसे बीस हजार आदमी भी किसी समाज में चले जायँ तो भी उस समाज का सुधार नहीं कर सकते। दिन रात उदर रूपी फोड़े की मरहम पट्टी में लगे रहने वाले आप लोग क्या किसी समाज का सुधार कर सकते हैं। स्वयं ही अपने धन, स्त्री, पुत्रादि के प्रपंच में लगे रहते हो तो किसी समाज का तुम्हारे द्वारा सुधार कैसे हो सकता है। जब तुम धर्म का स्वरूप नहीं जानते तो किससे उसका संबंध है किससे नहीं यह कैसे कह सकते हो।

धर्म का स्वरूप जानना आवश्यक है। **जो सुख का साधन हो और निरय का उत्पादक न हो वही धर्म है।** जिसके द्वारा सुख मिले पर नरक में न जाना पड़े वही धर्म है। उदाहरण के लिये पर-स्त्री से सन्तान हो सकती है और निज स्त्री से भी हो

श्रद्धावान और इन्द्रियों का संयम करने वाले को ज्ञान की प्राप्ति होती है और ज्ञान प्राप्त करके मनुष्य परम शान्ति का अनुभव करता है। परम शान्ति होना ज्ञान का फल है। यह ज्ञान कहाँ और कैसे प्राप्त होता है यह बताते हुए भगवान ने कहा है—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।

उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥

(गीता 4.34)

भगवान कहते हैं कि ज्ञान प्राप्ति का यह उपाय है कि तत्त्वदर्शी और ज्ञानियों के निकट जाकर प्रणाम करें, प्रश्न करें और प्रश्न करने पर भी यदि वे ध्यान न दें तो उनके निकट रहकर सेवा करें। ऐसा करने पर अवश्य ही वे अधिकारी को उपदेश करेंगे। भगवान श्रीकृष्ण ने अपने ऊपर तत्त्व ज्ञानोपदेश की जिम्मेवारी नहीं ली। यही कहा कि ज्ञानी और तत्त्वदर्शी तुझे उपदेश करेंगे। क्योंकि भगवान श्रीकृष्ण तो हमेशा रहेंगे नहीं परन्तु ज्ञानियों और तत्त्वदर्शियों का कभी अभाव नहीं होगा। उनकी परम्परा सदा चलती रहेगी। यदि भगवान श्रीकृष्ण अपने ऊपर जिम्मेवारी लेते तो जब वे संसार से गये तभी से ज्ञान की परम्परा समाप्त हो जाती है। तत्त्वदर्शी ही तत्त्व का दर्शन करा सकता है और **तत्त्वदर्शी हुए बिना सुख-शान्ति नहीं मिल सकती।**

कुछ लोग भक्ति को और ज्ञान को अलग-अलग मानकर भक्तों और ज्ञानियों में झगड़ा मचाते हैं। परन्तु जो भक्त है वही ज्ञानी है, जो ज्ञानी है वही भक्त है। समस्त चराचर में एक रस रमे हुए परमात्मामय भगवान को ही अपना स्वरूप समझने वाला ज्ञानी कहा जाता है और समस्त विश्व को अपने इष्ट देव का ही स्वरूप समझने वाला अहर्निश भगवद्भाव में तल्लीन भक्त कहा जाता है। वस्तु एक ही है भक्त उसे अपना इष्ट देव मानता है, ज्ञानी उसे अपना स्वरूप मानता है। एक ही मनुष्य

को कोई अपना पिता कहता है कोई अपना स्याला। यदि एक मनुष्य अपने स्याले को हटा ले तो दूसरे का पिता गायब हो जायेगा। इसी प्रकार यदि भक्त अपने भगवान को हटा लें तो ज्ञानियों के ब्रह्मस्वरूप का पता भी नहीं लगेगा। या ज्ञानी ही अपने स्वरूप का तिरोधान कर ले तो भक्तों के भगवान ढूँढ़े नहीं मिलेंगे। तत्व एक ही है ज्ञानी और भक्तों की यथार्थ ज्ञाननिष्ठा में जो अन्तर है यह इतना सूक्ष्म है कि मोटे तौर पर यही कहा जा सकता है कि जो भक्त है वही ज्ञानी है और जो ज्ञानी है वही भक्त है।

हम कहते हैं, जिस वस्तु का ज्ञान नहीं है उसकी उपासना कैसे कर सकते हो ? ज्ञान कहते हैं जानने को और भक्ति कहते हैं सेवा करने को। **भगवान को जान लिया तो ज्ञानी बन गये और सेवा पूजा करने लगे तो भक्त बन गये।**

भक्त और ज्ञानी कुछ भी बन जाय तो कल्याण हो जायेगा। भक्त और ज्ञानी में झगड़ा करते रहने वाले कहीं के नहीं रहते। कहीं भी निष्ठा पुष्ट करो तभी कल्याण होगा।

ग्रन्थों में पढ़कर शुद्धोऽहं अखंडोऽहं, निर्विकारोऽहं, कहने से कुछ होगा नहीं, निष्ठा बनाओ।

फलं कतक वृक्षास्य, यद्यप्यम्बुप्रसादकः।

न नाम ग्रहणादेव, तस्य वादिः प्रसीदति।।

कतक वृक्ष का फल 'निर्मली' यद्यपि जल को स्वच्छ करने वाला होता है परन्तु निर्मली निर्मली चिल्लाने से जल स्वच्छ नहीं हो सकता जब तक कि उसे घिसकर जल में डाला न जाय। इसी प्रकार जब तक आन्तरिक निष्ठा पुष्ट नहीं होगी तब तक भक्ति या ज्ञान की बातें करने मात्र से कुछ हो नहीं सकता।

इसी सम्बन्ध में एक दृष्टान्त है। एक बहेलिया को तोते पकड़ते हुए देखकर

(146)

एक महात्मा को दया आई। बहेलिया लोग ऐसा करते हैं कि एक पेड़ में रस्सी बाँध देते हैं और रस्सी में बाँस की पोली नली (पुल्ली) डाल देते हैं और उसी पर कुछ खाद्य पदार्थ छिड़क देते हैं। खाद्य पदार्थ को देखकर तोते पुल्ली में बैठते हैं तो उनके बोझ से पुल्ली घूम जाती है और वह नीचे गिरने के डर से पुल्ली को अपने पंजे से जोर से पकड़कर उल्टा लटका रहता है। डर के कारण वह पुल्ली छोड़ता नहीं परन्तु ऐसा समझता है कि पुल्ली ने उसे पकड़ रक्खा है। महात्मा ने एक तोते को पकड़ा और उसे सिखाना शुरू किया कि **'पुल्ली तुम्हें नहीं पकड़े है, तुम पुल्ली को पकड़े हो पुल्ली छोड़ दो तो बंधन छूट जायेगा। अपने अज्ञान से ही तुम बँध हुए हो।'** इसी प्रकार उस तोते ने बहुत से तोतों को सिखा दिया।

एक दिन महात्मा को बड़ा आश्चर्य हुआ जब उसने देखा कि वही तोता पुल्ली पर लटका हुआ है और चें चें करता हुआ बोल रहा है कि हम पुल्ली को पकड़े हुए हैं पुल्ली हमें नहीं पकड़े हैं। पुल्ली छोड़े दें तो अभी बंधन से मुक्त हो जायें। तोता लटका हुआ है किन्तु मुख से यही बोल रहा है। यही दशा उन लोगों की है जो शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, स्त्री, पुत्र, धन आदि की तृष्णा में अहिर्निश लीन हैं परन्तु कहते हैं कि शुद्धोऽहं, अखण्डोऽहं, निरंजनोऽहं, निर्विकारोऽहं।

केवल शब्दों के दोहराने से काम नहीं चलेगा। जब तक निष्ठा पुष्ट नहीं होगी तब तक शुद्धोऽहं, अखण्डोऽहं कहने से अज्ञान की निवृत्ति और ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती और भवबन्धन से मोक्ष नहीं मिल सकता।



हिन्दू धर्म समस्त विश्व के लिये कल्याणकारी है

हमारे सामान्य धर्मों के द्वारा सबका समान रूप से हित साधन होता है।

जो लोग धर्म को नहीं समझते वे ही धर्म का खण्डन करते हैं। यदि उन्हें ठीक

(147)

राजा गिड़गिड़ाकर चरणों में गिर पड़ा और कहा—महाराज अज्ञान के कारण बहुत बड़ी गलती हुई, इसका क्या प्रायश्चित्त होगा ? गुरुजी ने कहा बेटा कोई बात नहीं तुमने कोई गलती नहीं की। दो पैसे की हण्डी भी कोई लेता है तो उसको भी **ठोक बजाकर देख लेता है**। (हँसी) हण्डी में क्या जायेगा। अधिक से अधिक आधा सेर जल ही तो गिरेगा, पर फिर भी तुमने ठोक बजाकर देख लिया अच्छा ही किया। (हँसी) यह क्षमा का उदाहरण है। गुरु लोग इसी प्रकार अथाह सागर के समान होते हैं और जिसमें गुरुत्व नहीं होता वे उथले घड़े के समान होते हैं जिसमें थोड़ा भी जल जाये तो वह चलता है।

एक राजगुरु थे, सड़क से जा रहे थे। भंगिन सड़क पर झाड़ू दे रही थी, कुछ धूल उनके शरीर पर पड़ गई। राजगुरु ही ठहरे। अपने को सम्हाल न सके। क्रोध में आकर उसको बहुत अपशब्द कहे। भंगिन ने उसके उत्तर में चार झाड़ू लगा दिये। (हँसी) बीच बाजार में भंगिन ने राजगुरु को झाड़ू से पीटा। (हँसी) बेचारे बड़े अपमानित हुए सीधे राजा के यहाँ गये। जाकर कहा। तुम्हारे राज्य में हमारा इतना अपमान। राजा ने कहा महाराज ! आप जैसा कहेंगे वैसा ही दण्ड उसे दिया जायेगा। आप थोड़ा शान्ति रहिये, हमें क्षमा कीजिये। अभी हम उसे बुलवाते हैं। भंगिन बुलाई गई। राजा ने पूछा क्यों तुमने गुरु महाराज का इतना अपमान क्यों किया ? भंगिन ने कहा—सरकार हमने गुरु महाराज का कोई अपमान नहीं किया। हम तो आपकी प्रजा हैं। गुरु महाराज के दर्शन से अपने को धन्य मानते हैं, भला हम इनका अपमान कैसे करेंगे। यह सुनकर राजगुरुजी और आगबबूला हो गये। कहा—क्यों झूठ बोलती है तूने मुझे बीच सड़क में चार झाड़ू नहीं मारा है ? (हँसी) भंगिन हाथ जोड़कर राजा से बोली—“सरकार कसूर माफ हो तो कहूँ।” राजा ने कहा—“जो बात हो सो कहो।” भंगिन ने कहा—“महाराज हमने आप ही लोगों से सुना है कि

(152)

सकती है। परन्तु पर-स्त्री से सन्तान सुख देने वाली होने पर भी नरक में ले जाने वाली है इसलिये पर-स्त्री का सम्बन्ध अधर्म है, और निज स्त्री सन्तान सुख की देने वाली है और नरक को ले जाने वाली नहीं है। इसलिये निज स्त्री का सम्बन्ध धर्म है। यह कहते हुए श्रीचरण ने कहा कि किसी समय एक कवि वेश्या के यहाँ गया। लौटते समय उस वेश्या ने पूछा अब आप कब मिलेंगे ? तो कवि ने कहा वेद-शास्त्र सत्य है तो अब नरक में हम दोनों मिलेंगे। (हँसी) **धर्म सबकी रक्षा करता है न वह राष्ट्र का विरोधी है न समाज का और न किसी व्यक्ति का।** धर्म का मुख्य स्वरूप यही है जो सुखप्रद हो परन्तु नरकप्रद न हो।

दूसरे का धन सुखप्रद तो हो सकता है परन्तु नरकप्रद होने से वह संग्रहणीय नहीं है। किसी का भी रुपया ले जाओ तो बाजार में कोई यह नहीं पूछेगा कि तुम्हारा ही रुपया है या किसी दूसरे का, जो चीज चाहोगे उससे खरीदकर खा सकते हो। परन्तु चोरी के धन से जो कुछ खाओगे उससे बुद्धि भ्रष्ट हो जायेगी। बुद्धि की रक्षा करना बहुत आवश्यक है। क्योंकि बुद्धि ही ऐसी चीज है जो सब कुछ बना बिगाड़ सकती है। शरीर से चाहे सब कुछ बिगड़ जाय परन्तु यदि बुद्धि ठीक है तो बिगड़ी हुई सब बात बन सकती है और यदि बुद्धि भ्रष्ट हो गई तो बनी हुई सब बातें भी बिगाड़ सकते हो और कोई भी अनर्थ कर सकते हो। इसीलिये धर्म सम्मत आचरण की महत्ता है। धर्म के प्रधान दो भेद हैं—सामान्य धर्म और विशेष धर्म। सामान्य धर्म प्रत्येक मनुष्य के लिये कल्याणकारी है चाहे वह किसी भी देश और किसी भी जाति का क्यों न हो। यह सबके लिये समान रूप से हितकर है, किसी के लिये अहितकर नहीं है।

सामान्य धर्म के दश लक्षण कहे गये हैं—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रिय-निग्रहः।

(149)

धीविद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ।।

धृतिः — अर्थात् धैर्य बताइये धैर्य किसके लिये अहितकर है। शास्त्रों में कहा गाय है— ‘त्याज्यं न धैर्यं विधुरेऽपिकाले ।’

आपत्तिकाल में भी धैर्य का त्याग नहीं करना चाहिये। विपत्तिकाल में धैर्य का त्याग करके कोई अनर्थ लगे तो आपत्ति का समय तो ढल जायेगा परन्तु जो अनर्थ हो जायेगा उसका फल भविष्य में भोगने के लिये बना रहेगा। दिन रात्रि के समान सम्पत्ति विपत्ति आती रहती है। ऐसा नहीं होना चाहिये कि रात्रि आई तो चल पड़े चोरी करे के लिये। विपत्ति आई तो यही सोचना चाहिये कि जब हमारे सम्पत्ति के दिन नहीं रहे तो ये विपत्ति के दिन भी नहीं रहेंगे। धैर्यपूर्वक भगवान का स्मरण करते हुये विपत्तिकाल को किसी तरह काटना चाहिये।

क्षमा— सामान्य धर्म का दूसरा लक्षण है क्षमा। (श्रीचरण के सिंहासन के नीचे बगल में ही सेठ श्री कृष्णदास जी अग्रवाल बैठे हुए थे, उनके आसपास और भी कुछ वैश्य समाज के सज्जन सम्भवतः थे ही। उसी ओर देखते हुए महाराजश्री ने हँसते हुये कहा) क्षमा में तो वैश्य लोग कुशल होते हैं, जैसा परमात्मा इन लोगों को मानता है, धन दौलत में वैसे ही ये लोग क्षमाशील भी होते हैं। जब इन लोगों में, सड़क के आमने सामने की पटरी वालों से लड़ाई होती है तो ये लोग अपनी-अपनी दूकान के खम्भे उखाड़ने लगते हैं। (हँसी) बड़ी बुद्धिमानी से काम लेते हैं। (हँसी) न खम्भा उखाड़ेगा न फौजदारी होगी। **क्षमा पृथ्वी का नाम है।** जिस प्रकार पृथ्वी में शुभ अशुभ सभी प्रकार के काम होते हैं। सब लोग उसके उपर चलते हैं। मल मूत्र तक त्याग करते हैं परन्तु पृथ्वी सब सहन करती जाती है, किसी से रुष्ट नहीं होती। इसी प्रकार यदि कोई अपना अपमान करे या किसी प्रकार हानि पहुँचाने की चेष्टा करे तो उसको क्षमा ही करना चाहिये।

(150)

दुर्जन के लिये, दुर्जन बनना निन्दक के लिये स्वयं निन्दक बना जाना उचित नहीं।

क्षमा खड्गं करे यस्य

दुर्जनं कि करिष्यति ।

अर्थात् क्षमा रूपी खड्ग जिसके हाथ में है उसका दुर्जन लोग कुछ नहीं कर सकते। क्षमाशील होना बड़प्पन की निशानी है।

एक बार एक राजा को गुरु बनाने की इच्छा हुई। आजकल तो राजा रईसों को गुरु बनाने की इच्छा ही नहीं होती। किसी किसी को कभी हो भी जाय पर अधिकांश तो वैसे ही रहते हैं। उसने अपने एजेन्टों से कहलवा दिया कि अमुक दिन राजा साहब दीक्षा लेने आयेंगे। स्वयं गुरु के पास नहीं गया।

जिस दिन दीक्षा का दिन था उस दिन गुरुजी ने सोचा कि चलकर देख तो आयें कि किसको शिष्य करना है। एक मैला वस्त्र पहनकर हाथ में खाली हण्डी लेकर राजा के दरवाजे पर जाकर खड़े हो गये। जब राजा बाहर निकला तब उसके पुरोहित ने कहा यह तो बड़ा अपशकुन हुआ—कुचैले वस्त्र पहने हुए और खाली हण्डी हाथ में लिये हैं, और आप तो एक शुभ कार्य के लिये चल रहे हैं। दरवाजे पर यह अपशकुन अच्छा नहीं है। राजा को क्रोध आ गया और उसने महात्मा जी के तीन चार हन्टर लगा दिये। महात्मा चुपचाप लौट गये। थोड़ी देर में राजा भी चला गया और दीक्षा का सब सामान लेकर महात्माजी के आश्रम में पहुँचा। आश्रमवासियों ने कहा गुरुजी कहीं बाहर गये हैं थोड़ा रुक जाइये आते ही होंगे। थोड़ी देर में राजा ने देखा कि जिनको वह अपने द्वार पर हन्टर लगाकर चला था वही महात्मा आ गये। उनकी पीठ पर हन्टर उभरे हुए हैं और खून झलझला रहा है। आश्रमवासी उठकर खड़े हो गये तब राजा को पता लगा कि यही महात्मा हैं। जिनको गुरु बनाना है।

(151)

“मैं मृत्यु हूँ।” आपने अभी मुझे बुलाया इसीलिये मैं आई हूँ। वृद्धा ने कहा—
 “अच्छा हुआ आ गई, इसी गट्टर को उठाने के लिये बुलाया था।” (हँसी) तात्पर्य यह है कि प्राणी चाहे जिस स्थिति में हो वह मरना नहीं चाहता। परन्तु यदि खाते पीते ही जीते रहना है तो ऐसे जीने से कोई लाभ नहीं। **जीना वही सार्थक है कि जो कुछ आगे के लिये बनाया जाय।** यदि केवल विषय भोग के लिये जीना है तो इस प्रकार पाप संग्रह करते हुये जीने से तो मर जाना ही अच्छा है।

व्यवहार में यह अवश्य स्मरण रखना चाहिये कि अपने से यदि **किसी की भलाई न हो सके तो किसी की बुराई भी न करना** और साथ ही साथ भगवान का भजन पूजन कुछ न कुछ अवश्य करते रहना। मन तो चंचल है, मन लगे या न लगे भजन पूजन में समय खर्च करना चाहिये। यदि अभी नहीं लगता है तो थोड़े दिनों में लगने लगेगा। परन्तु करते जाना चाहिये, जिस गिलास में पानी पीते हो उसी गिलास से थोड़े दिनों में प्रेम हो जाता है क्योंकि जब दूसरा गिलास आता है तो ऐसा लगता है कि वह पुराना गिलास कहाँ गया? इसी प्रकार जिस छड़ी को रोज हाथ में लेते हो, कुछ दिनों में उससे प्रेम हो जाता है। वैसे ही भगवान के नाम को जपते जपते उस नाम से भी, छड़ी गिलास के समान, प्रेम हो जायेगा। **इसीलिये बिना मन के भी भगवान का नाम लेते रहना। मन कहीं जाय तो जाने देना।**

सत्संग का बहुत महात्म्य कहा गया है। परन्तु सत्संग वही है जहाँ भगवान संबंधी चर्चा हो। महात्मा लोग आया जाय ही करते हैं। इन लोगों से कुछ सुनते सुनाते रहोगे तो झाड़ू लगता ही रहेगा, गन्दगी कुछ साफ होती ही रहेगी।

लोग पूछा करते हैं कि क्रोध कैसे छूटे? क्रोध का पिता है काम। यदि पिता समाप्त कर दोगे तो सन्तान पैदा ही नहीं सकती। लोक वासना ही क्रोध का मूल कारण है। इसको कम करना चाहिये।

क्रोध चाण्डाल होता है और चाण्डाल मेरा पति है। जब मैंने देखा कि सड़क पर गुरुजी को क्रोध आ गया तब मेरे मन में यह भाव हुआ कि चाण्डाल ने उनको भी नहीं छोड़ा। यह सोचकर मैंने अपने पति को अर्थात् चाण्डाल क्रोध को चार झाड़ू लगाये और कहा कि कम से कम गुरुजी को तो छोड़ देता इन पर भी कब्जा कर लिया (हँसी) इस प्रकार सरकार मैंने अपने पति को झाड़ू लगाया था। गुरुजी को तो मैं छू भी नहीं सकती।” राजा ने पूछा कि महाराज क्या किया जाय? गुरुजी बोले जाने दिया जाय, अब क्या किया जाय? (हँसी) एक महात्मा थे जो मार खाकर भी शान्त रहे और एक ये थे राजगुरु जिनमें इतना रजोगुण था कि थोड़ी भी क्षमाशील नहीं। अरे, सड़क पर जो रहे हो, कुछ धूल उड़कर पड़ ही गई तो क्या बहुत बिगड़ गया? इतना ही परहेज है तो सड़क पर पैदल चलो ही मत या कि घर लौटकर स्नान कर डालो। क्रोध करने की क्या बात है? यह तो एक उदाहरण है, दिन में इसी प्रकार के सैकड़ों निमित्त व्यवहार में आते हैं जिनमें किसी न किसी से कुछ गलतियाँ होती ही रहती है उन्हीं को लेकर **क्रोध करते रहना अपने जीवन को अशान्त बनाकर सर्वथा नष्ट करना है।** क्षमाशील होना चाहिये। किसी से कोई गलती हो जाय तो क्षमा के द्वारा अपने अन्तःकरण को बिगड़ने से बचाना चाहिये। क्षमा न करेंगे तो वह बात तो बिगड़ ही गई क्रोधादि के द्वारा अपने अन्तःकरण को भी बिगाड़ लोगे इससे डबल नुकसान होगा। क्षमा मनुष्य का बहुत उत्तम लक्षण है। धर्म का यह लक्षण किसके लिय बाधक है।

किसी भी देश का कोई भी मनुष्य हो क्षमाशील हुआ तो जीवन में शान्ति का अनुभव करेगा। क्षमाशील होना मनुष्यता है और आवेश में बहकर उद्विग्न हो उठता पशुता है। इसीलिये क्षमा को सामान्य धर्मों में रक्खा गया है। यह सबके लिये समान रूप से लाभकारी है। इसलिये दुर्जन के लिये दुर्जन बनना और निन्दक के लिये

स्वयं निन्दक बन जाना उचित नहीं। इन लोगों को प्रति क्षमा का ही भाव रखना चाहिये।

क्षमा खड्गं यस्य, दुर्जनं किं करिष्यति क्षमारूपी

खड्ग जिसके हाथ में है उसका दुर्जन कुछ नहीं बगाड़ सकता।

अतृणे पतिते वह्निः स्वयमेवीपशाम्यति।

जहाँ तृण न हो वहाँ अग्नि का अङ्गार गिरे भी तो क्या करेगा ? स्वयं ही शान्त हो जायेगा। इसी प्रकार जो क्षमावन्त है उनके प्रति किये गए दुर्जनों के दुर्व्यवहार स्वयं ही समाप्त हो जाते हैं। इसीलिये सदैव ही उपेक्षा वृत्ति का सहारा लेना चाहिये।

इसी प्रकार मैत्री करुणा मुदिता और उपेक्षा इन्हीं चार वृत्तियों में रहते हुए व्यवहार चलाना चाहिये और किसी पाँचवीं वृत्ति का सहारा नहीं लेना चाहिये। **ऐसा करोगे तो कभी अशान्ति का अवसर नहीं आयेगा।**

धन के दुरुपयोग के सम्बन्ध में यह बात है कि नम्बर एक का दुरुपयोग यह है कि पापाचार, दुराचार में धन खर्च किया जाय और नम्बर दो का दुरुपयोग यह है कि पूर्व की कमाई खाकर आगे के लिये संचय न किया जाय। धन को बुरे कामों न भी लगाओ तो भी यदि उसे यदि सत्कार्यों में न लगाया तो उसका दुरुपयोग ही है, दुष्कर्म में धन का उपयोग न करते हुए यदि सत्कर्म में न लगाया जा रहा है तो यही नम्बर दो का दुरुपयोग है।

धन का उचित उपयोग यही है कि उसकी 'प्रथम गति' हो अर्थात् सत्पात्र में उसका व्यय हो।

अपने जीवन के सदुपयोग के लिये सचेष्ट रहना वर्गवाद व्यर्थ की चीज है। आजकल लोग जाति पाँति के फेर में पकड़कर ही व्यर्थ ही व्यर्थ के वर्गवाद में पड़कर जीवन का अमूल्य समय नष्ट करते हैं। किसी जाति में जन्म हो गया, भगवान को छोड़कर जातियों के संगठन के फेर में पड़ जाते हैं। जहाँ कहीं जिस

जाति में जन्म हो गया, हो गया अब किसी तरह जन्ममरण रूपी कारागार से निकलने का प्रयत्न करना चाहिये न कि एक जाति रूपी कारागार का समर्थन करते बैठो। अपनी जाति पाँति से इतना ही लाभ उठाना चाहिये कि उसमें जो वेद शास्त्रानुसार अच्छी बातें हो तो उन्हें अपनाओ और जो वेद शास्त्र के विरुद्ध प्रथायें हो उनसे कोई संबंध न रखो, उनका त्याग कर दो।

इसी में जात्माभिमान की सार्थकता है और यह निश्चय रखना चाहिये कि यह बात वही है जो वेद शास्त्र के अनुकूल है। हमारे विचार से कोई बात अच्छी बुरी नहीं हो सकती। अच्छी बात वही है जिसे वेद शास्त्र अच्छा कहता है और बुरी बात वही है जिसे वेद शास्त्र बुरा कहता है।

धन की इच्छा हो तो **ऐसे धन का संग्रह करो जो साथ जाय**। जिसको यहीं छूट जाना है ऐसे 'टेम्पेरी' धन का संग्रह करने से क्या लाभ है ? यह बात जरूर है कि अविवेकके कारण—

धनाशा जीविताशा जीर्यतोऽपि जीर्यते।

धन संग्रह करने की इच्छा और जीते रहने की इच्छा यह जीर्ण शीर्ण हो जाने पर भी, मिटती नहीं। इस पर एक दृष्टान्त है कि एक बहुत वृद्ध स्त्री थी। किसी तरह से लकड़ी बीन बीनकर बेचकर अपनी आजीविका चलाती थी। उसका जीवन कष्टमय था। एक दिन जंगल में लकड़ी बीनते बीनते लोभ के कारण उसने बहुत बड़ा गट्ठर बाँध लिया जो उससे उठाये नहीं उठता था। गट्ठर उठाने का उसने कई बार प्रयत्न किया परन्तु उठा न सकी। अन्त में निराश होकर बड़े दुःख के साथ उसने कहा यदि किसी तरह मृत्यु आ जाती तो मैं इस जंजाल से छूट जाती। उसने इतना कहा ही था कि मृत्यु सामने आकर खड़ी हो गई। मृत्यु ने कहा—“कहिये माताजी किस लिये बुलाया है।” वृद्धा ने पूछा—“तुम कौन हो ?” मृत्यु ने कहा—

सकतीं कि सब काल में सर्वोपयोगी सिद्ध हो सकें।

कुछ लो कर्मणा जाति की बात उठाते हैं यह भी सर्वथा अनर्गल बात है। हम पूछते हैं कि कोई पदारूढ़ होकर उस पद के अनुकूल कर्तव्य करता है या कि कर्म करने लगता है तब उसकी पद पर नियुक्ति होती है। दो लड़कों ने एम.ए.एल.बी. की परीक्षा पास कर ली। एक तो जाकर घर में बैठ गया और दूसरे की कलेक्टर के पद पर नियुक्ति हो गई। जो कलेक्टर के पद पर नियुक्त हुआ उसे कलेक्टर की ड्यूटी का अधिकार मिला और उसी अधिकार के अनुसार वह कलेक्टर का काम करने लगा। अब देखना यह है कि जो कलेक्टर के पद पर आ गया जिसका कलेक्टर नाम हो गया वही कलेक्टर का काम करने का अधिकारी हुआ और जो एम.ए.एल.बी. पास करके घर पर पैठ गया वह यदि कहे कि मैं कानून जानता हूँ और चोरों को सजा और फौजदारी करने वालों को जेल भेज दूँ तो क्या कोई उसके फैसले पर जेल भेजा जा सकता है ? तात्पर्य यह है कि जब तक उसे कलेक्टर का पद नहीं मिला तब तक वह कलेक्टर के काम करने का अधिकारी नहीं और वह कलेक्टर नहीं माना जा सकता। पदारूढ़ होने पर ही उस पद के अनुरूप कार्य करने का मिलता है न कि कार्य करने पर पद की संज्ञा। इसी प्रकार जहाँ जिस कुल में मनुष्य का जन्म हो जाता है उसी कुल के अनुरूप कार्य करने का उसे अधिकार होता है। इसलिये **कर्मानुसारी नहीं जन्मानुसारी वर्ण व्यवस्था है।**

जन्म होने पर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र आदि संज्ञा जब हो जाती है तब उसी के अनुसार वह कर्म करता है। यदि कर्म से जाति का निर्णय माना जाय तो भी उत्पन्न हुए बालक के जातिकर्म, नामकरण, अन्नप्राशन, चूड़ाकरण आदि **संस्कारण किस वर्ण के आधार पर कराये जायँगे।** किस वर्ण के आधार पर और किस विधान से संस्कार कराये जायँ। यदि कर्म के आधार पर जाति मानी जाय तो परिस्थितियों के अनुसार कर्मों में भेद होता जाता है। दिन-भर में सबेरे से शाम तक

चोर चन्द्रमा को देखता है तो गाली देना शुरू करता है। चन्द्रमा किसी का शत्रु नहीं होता। वह तो अन्धकार को हटाकर प्रकाश फैलाता है, किन्तु जिन्हें अन्धकार ही अभीष्ट है वे चन्द्रमा को नहीं चाहते। इसी प्रकार अनाचार, पापाचार, भ्रष्टाचार फैलाने वाले लोग उन बातों को पसंद नहीं करते। जिनके द्वारा भ्रष्टाचार पापाचार कम होता है। जब धर्म की चर्चा चलती है, वेद शास्त्र की चर्चा जोरों से चल पड़ती है तो वही होता है कि—

‘चौराणां चन्द्रमा रिपुः’

चोरों के लिये चन्द्रमा में अंधेरा तो हो नहीं सकता यदि कोई धर्म की चर्चा सुनकर दुःखी होते हैं या जलते हैं तो समझ लो कि धर्मभीरु जनता को वे लोग धर्म की आड़ में ठगते हैं, धोखा देते हैं। जब जनता को धर्म के स्वरूप का बोध होने लगा तो अब इनकी चालाकी और ठगी काम न करेगी। इसी दुःख के कारण लोग बौखला उठते हैं। इन लोगों का अभिप्राय रहता है कि जनता की आँख न खुलने पाये।

सम्प्रदायवादियों में खास तौर से यह बात देखी जाती है कि वे अपने अनुयायियों को कोल्हू का बैल बना कर रखते हैं, जैसे कोल्हू के बैल की आँख में पट्टी बाँध दी जाती है कि जिससे वह इधर-उधर न देख सके। इसी प्रकार ही अपने पशुओं (अनुयायियों) को ऐसे घेरे रहते हैं कि जिसमें ये बाहर निकलकर किसी की बात न सुन पायें। इनको डर रहता है कि हमारे अनुयायी कहीं बाहर गये और किसी की बात सुन ली तो कहीं इनकी आँखे खुल न जायँ। कितना बड़ा विश्वासघात करते हैं, **मनुष्य जीवन कितना दुर्लभ है?** इसकी उन्हें जरा भी चिन्ता नहीं। **वेद शास्त्र का सहारा न लोगे तो न जाने किस गड्डे में गिर जाओगे।** वेद शास्त्र का अर्थ भी लोग अपने अपने ढंग से लगाते हैं। ऐसा भी कहने वाले लोग हैं कि ‘रामकथा

सुन्दर तरकारी पूड़ी साग उड़ावन हारी ।' (हँसी) वास्तव में यह इस प्रकार है कि—

रामकथा सुन्दर करतारी । संशय विहग उड़ावनहारी ।।

भगवान राम की कथा अति मधुर करतल ध्वनि के समान है जिसके द्वारा संशय रूपी पक्षी दूर हट जाते हैं। अर्थ का अनर्थ करके लोग दूसरों को भ्रम में डाल देते हैं। आप्तों के द्वारा जो अर्थ होता है उससे अनर्थ नहीं होता। जो आप्त हैं वे अनर्थ नहीं करेंगे अर्थ ही करेंगे। सनातन धर्म में वेदोक्त कर्मकाण्ड उपासना काण्ड और ज्ञान काण्ड का समान रूप से आदर है। अधिकारी भेद से तीनों का महत्व बराबर है। जो जिसका अधिकारी है वही उसके लिये सर्वोपरि है। अधिकार निरुपय के लिये ही व्यवहार में वर्णाश्रम या धर्म व्यवस्था है और उसी के आधार पर **स्वधर्मानुष्ठान पर जोर दिया जाता है**। हमारी दृष्टि में तो आप सब लोग समान हो। शिष्य रूप में हम सबको एकभाव देखते हैं। हमारे सामने न कोई राजा है न शंकर, परन्तु आप लोग परस्पर समान नहीं हो, अपनी अपनी श्रेणी के अनुसार सब में भेदभाव है ही। समता तो समाधि में ही होती है।

व्यावहारिक जगत में तो समानता का भाव नहीं चल सकता। परस्पर आप लोग सम नहीं हो सकते। आपस में विषम ही रहोगे। जहाँ व्यवहार है वहाँ तो अपनी अपनी कोटि की **मर्यादा माननी ही पड़ेगी**। मर्यादा का बताने वाला है वेद शास्त्र। वेद शास्त्र ही हमारे यहाँ मर्यादा का विधान बताने वाला है। वेद शास्त्रानुकूल जो बातें कही जाती हैं वही मान्य हो सकती है, किसी की मनगढन्त सूझ का कोई महत्व नहीं। कैसे किसी की मनगढन्त बात मानी जा सकती है? वेद शास्त्र का आधार छोड़कर यदि किसी की बात मानी जाय तो फिर किस किसकी की मानी जायेगी और फिर मर्यादा का स्वरूप ही क्या रहेगा ?

लोग कहते हैं कि मुसलमानों को हिन्दू बना लिया जाय। हम पूछते हैं कि

(158)

उसकी विधि कहाँ है ? जो कार्य करने योग्य हैं उन सबका विधान शास्त्रों में लिखा हुआ है कि कैसे किये जायँ ? ब्राह्मण को क्षत्रिय और क्षत्रिय का ब्राह्मण बनना हो तो इसका कोई विधान शास्त्रों में नहीं कि किस विधान से बनाये जायँ ?

वेद शास्त्र में जिस कार्य के विधान नहीं है उनका समर्थन नहीं किया जा सकता। व्यास, वशिष्ठ, अत्रि, अंगिरा आदि त्रिकालज्ञ महर्षियों ने जब सामाजिक और व्यक्तिगत जीवन के कल्याणकारी छोटे से छोटे और बड़े से बड़े कार्यों का विधान बनाया है तो क्या यदि वे वर्ण परिवर्तन को कल्याणकारी और आवश्यक समझते तो क्या उसका विधान नहीं बना सकते थे ? स्पष्ट है कि जिन कार्यों के लिये धर्म शास्त्र में विधान नहीं है वे सर्वथा अनर्थकारी और समाज एवं व्यक्ति के लिये लौकिक अथवा परलौकिक पतन के हेतु हैं। आज दस, बीस, पचास, सौ, दो सौ विषयी पामर बैठकर कमेटी करके किसी कार्य की विधि बना लें तो वह सर्वथा अमान्य है। जिन लोगों को एक मिनट आगे की बात का ज्ञान नहीं उनके बनाये सिद्धान्तों के आधार पर व्यक्ति या समाज के जीवन को चलाया जाय तो—

‘अन्धेन नियमानाः यथाऽन्धाः ।’

यही चरितार्थ होगा। धर्मशास्त्रों में भूत, भविष्य, वर्तमान के ज्ञाता त्रिकालज्ञ महर्षियों ने जो वेदानुसारी व्यवस्थायें बनाई हैं वे प्रत्येक व्यक्ति एवं समाज तथा प्राणी मात्र के लिये कल्याणकारी हैं। उनके विपरीत आधुनिक व्यवस्थाओं के पालन से किसी व्यक्ति विशेष या समूह विशेष का किसी समय विशेष में किंचित लाभ हो तो हो सकता है परन्तु यह ध्रुव है कि उनका प्रभाव उसी व्यक्ति अथवा समूह के लिये ही किन्हीं परिवर्तित परिस्थिति में हानिकारक भी सिद्ध हो सकता है। यही एक बात रहस्य की है कि **वेदशास्त्रानुसारी व्यवस्थायें सर्वकाल में सर्वोपयोगी हैं और मानव निर्मित व्यवस्थायें इतनी सर्वोद्गीण पूर्ण नहीं हो**

(159)

द्रौपदी को जब तक अपने पतियों का भरोसा था, तब तक भगवान की तरफ से कोई प्रबंध नहीं हुआ परन्तु जब वह सर्वथा निराधार हो गई, किसी से भी सहायता की आशा नहीं रही तो उसने भगवान का स्मरण किया और भगवान ने उसकी रक्षा की। जगत की सारी सामग्री द्रौपदी के सामने फेल हो गई। अर्जुन जैसे शक्तिशाली कोई भी सहायक नहीं हुए। अतः जगत का सहारा न लेकर सर्वशक्तिमान का सहारा लो। संसार को छोड़कर परमात्मा को अपनाओगे तभी सुखी रह सकते हो। प्रहलाद ने सर्वत्र अपने इष्ट को देखा तो इष्ट ने भी सब जगह उनकी रक्षा की।

हम यह नहीं कहते कि व्यवहार छोड़ दो। व्यवहार तो मर्यादापूर्वक करना ही चाहिये परन्तु उसमें आसक्ति न होने दो। हाथी के दाँत खाने के और दिखाने के और।

इसी प्रकार आप लोग भी ऊपर-ऊपर तो व्यवहार चलाते रहो पर मन से सदा भगवान का स्मरण करते रहो। किसी हालत में रहो चलते फिरते, उठते बैठते हर समय भगवान का भजन करते रहो। भजन करते करते शरीर छोड़ोगे तो फिर गर्भवास में न आना पड़ेगा। एक समय किसी ने हमसे प्रश्न किया कि जब मुक्त होकर लोग फिर वापिस नहीं आते तो इस तरह एक एक मुक्त होते होते किसी दिन संसार ही का विच्छेद हो जायेगा। हमने कहा यह कहीं लिखा है कि जीवों की कितनी संख्या है ? जीव तो अनन्तानन्त हैं। उनके अभाव का प्रश्न ही नहीं।

अनन्त जीव हैं, अनन्त जीवों के अनन्त कर्म हैं, उन सब हिसाब किताब रखना सर्वज्ञ का ही काम है। परमात्मा सर्वज्ञ है उसकी आँकों में धूल नहीं डाल सकते। परमात्मा सबके सब कामों को देखता है। आजकल लोग कोई दुष्कर्म करते हैं तो उसे छिपाते हैं। जहाँ हिसाब होना है जो हमारे शुभाशुभ कर्मों का फल देने वाला है वह तो जानता है ही है, इन सांसारियों से यदि छिपा भी लिया तो क्या हुआ ? कोई अनुचित कार्य हो जाय तो उसे कह देना चाहिये छिपाने की जरूरत नहीं। कह देने

हर किस्म के काम प्रत्येक मनुष्य को करने पड़ते हैं तो क्या क्षण क्षण में उसकी जाति बदली जायेगी और फिर इसका निर्णय कौन करेगा ? कर्म से जाति मानने पर सर्वज्ञ निर्णायक के अभाव में समाज व्यवस्था सर्वथा अनिश्चित और अव्यवस्थित रहेगी। कुछ लोग कहते हैं कि सृष्टि के आदि में वर्ण व्यवस्था नहीं थी बाद में बनाई गई। ऐसे लोगों से हम पूछते हैं कि कोई बता सकता है कि सृष्टि कब बनी ? सृष्टि किस तारीख को बनी थी तो फिर उस तारीख के व्यवहारों का ज्ञान कैसे हुआ कि उस दिन क्या था ? वर्णव्यवस्था थी अथवा नहीं ? हमारे शास्त्रों का तो यही सिद्धान्त है कि सृष्टि आदिकाल से प्रवाह रूप से, इसी तरह चली आ रही है। वर्ण व्यवस्था अनादि व्यवस्था है इसके संबंध में भ्रम फैलाना सर्वथा अवैदिक है।

जनता को सचेत करते हुये श्रीचरण ने कहा—**मनगढ़न्त बोलने वाले सिद्धान्तों की बात सुननी ही ठीक नहीं।** क्योंकि यदि उनकी बातें सुनोगे तो अन्तःकरण सबल न होने से उन बातों का असर पड़ सकता है। ऐसा नहीं कि राम की भी जय बोलो रावण की भी जय बोलो। वेद शास्त्रानुसारी सिद्धान्तों को सुनना ही ठीक है। जो वेद शास्त्र इतिहास, पुराणादि को नहीं मानते हैं उनकी बातें नहीं सुननी चाहिये नहीं तो भ्रम में पड़ जाओगे।



लोकवासनाओं को हटाओ

लोक वासना नहीं हटाओगे तो अनेकानेक जन्म होते रहेंगे। योगवशिष्ट में भगवान राम को उपदेश देते हुये वशिष्ट जो ने कहा है—

जन्मान्तर चिराभ्यता राम संसार वासना।

साचिराभ्यास योगेन विनानक्षीयते क्वचित्।

हे राम ! ये नाना प्रकार की सांसारिक वासनायें जन्म जन्मान्तरों से चली आ रही हैं। इनका इतने दीर्घकाल का अभ्यास पड़ा हुआ है कि बिना दीर्घकाल के सतत् अभ्यास के इनका हटना मुश्किल है।

वासनाओं के हटाने का उपाय है कि जगत को मिथ्या समझा जाय। जगत में यदि मिथ्यात्व बुद्धि नहीं हुई तो जगत को सच समझते हुए उसी में प्रवृत्त होकर घोर अशान्ति सहन करना पड़ेगी।

एक दृष्टान्त है कि कहीं से घूमते हुए नारद जी निकले एक वैश्य ने महात्मा समझकर एक गिलास दूध पिलाकर पूछा कि आप कहाँ से आ रहे हैं। नारदजी ने कहा कि बैकुंठ से आ रहे हैं। वैश्य ने कहा कि हमको भी बैकुंठ ले चल सकते हैं। नारद जी ने कहा है। तैयार रहना किसी दिन आयेंगे तो ले चलेंगे।

थोड़े दिनों में नारद जी आये और कहा कि चलो **सेठजी बैकुंठ चलो**। (हँसी) सेठजी ने कहा कि थोड़े दिन रुक जाइये। अभी लड़के जरा नासमझ हैं थोड़े दिन बाद जरा उनको कुछ अनुभव हो जाय तब चलेंगे। नारद जी बिचारे लौट गये। कुछ दिन बाद फिर सेठजी को ढूँढते हुए नारदजी ने ध्यान करके देखा तो मालूम हुआ कि सेठजी उसी घर में बैल बनकर आये हैं, नारदजी बैल के पास गये और कहा कि सेठजी चलोगे नहीं स्वर्ग ? सेठजी ने कहा आप देखते हो तो सबसे आगे हमीं चलते हैं, तभी कुछ काम होता है नहीं तो सब ज्यों का त्यों पड़ा रहे। अभा थोड़े दिन में चलेंगे। बैल की आयु थोड़ी होती ही है वह मर गया। बैल मरकर साँप हुआ और खजाने में जाकर बैठा। उसी पर पहरा देने लगा। नारदजी गये कहा सेठ जी अब तो चलो, दो योनि तो हो गई। साँप ने कहा कि महाराज लड़के इतने आलसी हैं कि दिन में ही लूट लिये जायेंगे। कुछ दिन में फिर विचार करेंगे। चलना तो है ही और अभी चलने से घर सब बरबाद हो जायेगा। नारदजी चले गये। उन्होंने लड़कों से कहा कि तुम्हारे खजाने एक पुराना साँप है। उसको मारकर बाहर कर दो नहीं तो किसी दिन धोखा हो जायेगा। उसको मारना पर सर में न मारना मरने न

पाये। लड़कों ने मार पीटकर साँप को बाहर हटा दिया। नारद जी रात्रि में फिर साँप से मिले कहा—कहो सेठजी कैसी पुट-पुटी पड़ी। (हँसी) क्या विचार है ? अब भी घर में रहोगे ? (हँसी) साँप ने कहा महाराज ! अब चलेंगे।

तात्पर्य कहने का यह कि **लोक वासना के कारण कई जन्मों तक जीव परेशान होता रहता है। लोक वासना से बचो।** संसार से मन को हटाओ। संसार जानने की वस्तु नहीं है, जानने योग्य तो परमार्थ ही है।

हमारे यहाँ मातृदेवो भव ! पितृ देवो भव ! आचार्य देवो भव। यह बाल्यावस्था से ही सिखाया जाता है कि माता को देवता मानो, पिता को देवता मानो, आचार्य को देवता मानो। बालक को सबेरे माता पिता को प्रणाम करना चाहिये—फिर गुरु को प्रणाम करना चाहिये। माता पिता न हों तो मानसिक ही उनको प्रणाम करना चाहिये। इनको प्रणाम करने से ये जो आशीर्वाद देते हैं उससे बालकों का बड़ा कल्याण होता है।



निराधार के आधार भगवान हैं

भगवान का नाम दीनदयालु है, वह अपनी शरण में आये हुए भक्तों का शीघ्र ही उद्धार करते हैं, पर आवश्यकता है दीन बनने की। जीव संसार का सहारा छोड़ना ही नहीं चाहता। कहीं न कहीं संसार में अपनी आस्था बनाये रहता है। भगवान जिसे सोपान से उठाना चाहते हैं वह उसे पकड़ता ही नहीं—सर्वथा निराधार नहीं बनता। भगवान तो निराधार के आधार हैं। गीता में भगवान ने कहा है—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।

तेषां नित्यभियुक्तानां योगक्षमं वहाम्यहम् ॥ 9-22 ॥

अर्थात् अनन्यभाव से जो मेरा स्मरण करता है उसके योग क्षेम का प्रबंध मैं करता हूँ।

यह समझता है कि विषय से हमें सुख मिल रहा है। कुत्ता सूखी अस्थि को चर्बण करता है, उसके चर्बण करने से उसका मुख कट जाता है और रक्त निकलने लगता है। वह यह समझता है कि हड्डी से ही रक्त निकल रहा है उसका स्वाद लेकर वह उसका और चर्बण करता है। इसी तरह विषयों में तो सुख है नहीं पर क्षणमात्र के लिये उसमें वृत्ति एकाग्र हो जाने के कारण जो सुखाभास होता है, उसमें संसारी लोग यही समझते हैं कि विषयों में सुख मिल रहा है।

जितना अधिक मन स्थिर होता है उतना ही अधिक आनन्द का भी अनुभव होने लगता है। इसलिये मन को स्थिर करने की आवश्यकता है। **मन की चंचलता उपासना से दूर होती है।** उपासना करते करते जब मन सर्वथा एकाग्र हो जाता है तो निरन्तर भगवद् आनन्द का अनुभव होने लगता है।

जनक ज्ञानी थे उनकी विदेह कहा है। एक बार राजा जनक कथा सुन रहे थे तो यह प्रसंग आया कि पुष्प को मर्दन करने में चाहे विलम्ब हो जाय पर यदि उच्च कोटि का गुरु हो साधन सम्पन्न शिष्य हो तो उसको ज्ञान कराने में विलम्ब नहीं हो सकता। पर शिष्य को साधन सम्पन्न होना चाहिये, साधनहीन को ज्ञान नहीं होता। जब जनक ने यह सुना तो कहा कथा बन्द कर दो और अब हमें ज्ञान कराओ, पर वह वक्ता ज्ञान न करा सका। उसको कारागार में बन्द कर दिया गया। अनेकों लोग जनक को ज्ञानोपदेश करने के लिये आये पर ज्ञान न करा सकने पर सबको कारागार में बन्द करवा दिया गया।

अन्त में अष्टावक्रजी आये। शरीर में आठ ही तो अंग हैं, वह आठों अंग से टेढ़े थे। द्वार पर आये कहा—हम जनक को उपदेश करने आये हैं। लोगों ने कहा चले जाओ नहीं तो जेल में बन्द कर दिये जाओगे। अष्टावक्र ने कहा कुछ भी हो तुम सूचना तो कर दो। जनक जी ने अष्टावक्र को बुलवाया, उनसे भी वही प्रश्न किया

से पाप क्षीण हो जाता है पर यदि कोई पुण्य किया है तो उसे छिपाना चाहिए। आजकल लोग जो नहीं कहने की चीज है वह तो कहते फिरते हैं और जो कहने की चीज है उसे छिपाते हैं। ऐसा नहीं, कोई पाप हो जाय तो कह दो।

भगवान का नियम है कि उनको पकड़ोगे तो वह भी तुम्हें पकड़ेंगे। जगत की आशा छोड़कर परमात्मा की शरण लो तो वह भी तुम्हें अपना लेंगे फिर जन्म मरण के चक्कर से छूट जाओगे। यह सब हमारे अनुभूत नुस्खे हैं, यदि इस पर विचार करोगे तो अवश्य लाभ होगा।



अंतःकरण को सुसंस्कारवान बनाने की आवश्यकता

विश्व में सुख और शान्ति की स्थापना के लिये लोगों के अन्तःकरण को सुसंस्कारवान बनाने की नितान्त आवश्यकता है। सहृदयता, उदारता, सहिष्णुता, क्षमा, निष्कपटता और कर्मठता इत्यादि गुण लोगों के सहज स्वभाव में आत्मसात हो जाने चाहिये। तभी विश्व का कल्याण हो सकता है सब अपने अपने स्वभाव के अनुकूल आचरण करते हुए देखे जाते हैं। इसलिये शैशवकाल से ही मनुष्य को धर्म और सदाचार का अभ्यास करने में लगाना चाहिये कालान्तर में अभ्यास ही स्वभाव बन जाता है।

धर्म का पालन करने से परमात्मा और परलोक के अस्तित्व में विश्वास होता है। तब मनुष्य समझने लगता है कि पाप करने से परलोक में दुर्गति और दुर्योनि भुगतनी पड़ेंगी। अतः भय और प्रलोभन से भी वह पाप करने में प्रवृत्त नहीं हो सकता। संसार में जितने भी दुःख हैं, वे पाप कर्मों का फल हैं। इसलिये संसार को सुखी बनाने के लिये पापाचार को समूल नष्ट करना पड़ेगा। इसका एकमात्र उपाय यही है कि सभी लोग अपने अपने धर्म का उचित रूप से पालन करने लग जायें। आज राजनीति और अर्थनीति पर अधिक जोर दिया जाता है, पर यदि इस पर

धर्म का अनुशासन रहे तो इन क्षेत्रों की अनेकों खराबियाँ सहज ही दूर हो सकती हैं। भारतीयता की विशेषता यही है कि राजनीति और अर्थनीति सदैव धर्म के अनुकूल रही। राजनीतिक नेताओं को हमारा यही सुझाव है कि वे धार्मिक बनें और उसी दृष्टिकोण से सभी समस्याओं का हल निकालें। इससे प्रारंभ में कुछ कठिनाइयाँ आ सकती हैं परन्तु अन्त में परिणाम बहुत सुन्दर होगा। पत्रकारों के लिये हमारा कहना है कि जनमत को शिक्षित का दायित्व प्रधान रूप से आज उनके ऊपर है। अतः वे जनता में सदाचार, नैतिकता एवं धार्मिकता को अधिकाधिक बढ़ाने की ओर अग्रसर हों। जिन लेखों और समाचारों से विद्वेष, अनैतिकता और विलासता को प्रोत्साहन मिलता हो, उनका प्रचार बंद कर देना चाहिये। उनके स्थान पर सद्भावना, प्रेम एवं परोपकार की भावनाओं को बढ़ाने वाले उपदेश, समाचार एवं लेखों को समाचार पत्रों में अधिकाधिक स्थान देना चाहिये।

इस युग की प्रगति का बहुत बड़ा भार वैज्ञानिकों के कन्धे पर है। वास्तव में विज्ञान और धर्म का कोई संघर्ष नहीं। विज्ञान संसार को सुखी बनाने में उपयोगी हो सकता है, यदि वैज्ञानिक लोग ऐसे आविष्कारों की ओर से अपनी दृष्टि हटा लें जिनसे परपीड़न, अत्याचार एवं शोषण की शक्ति बढ़ी हो। उन्हें तो ऐसे ही आविष्कार करने चाहिये जिनसे जीवन की कठिनाइयाँ कम की जा सकें। यदि विज्ञान के क्षेत्र में आस्तिक और धार्मिक लोगों का प्रवेश हो तो भविष्य अधिक उज्ज्वल हो सकता है।



दीवाली मानते हो तो हृदय में ज्योति जगाओ

एक बार अपने हृदय में भगवान को प्रकट कर लो तो सदा के लिये सुखी हो जाओगे। आप लोग दीवाली मानते हो तो अपने हृदय में आत्मज्योति जगाओ।

(166)

बाहर तो दीपक जलाना तो ठीक है परम्परा से चला आता है, पर एक बार अपने हृदय में भगवान को प्रकट कर लो तो सदा के लिये सुखी हो जाओगे।

आजकल लोग दीवाली के दिन जुआ खेलते हैं नाना प्रकार के भ्रष्टाचार करते हैं यह ठीक नहीं। दीवाली जुआ खेलने के लिये तो नहीं है। इसको कालरात्रि कहते हैं। इस दिन तो अपने इष्ट के भजन ध्यान में ही समय को बिताना चाहिये। दीवाली मनाने की सार्थकता इसी में है कि अन्तर्दीप जलाओ। अपने अन्दर प्रकाश मिल गया तो फिर संसार की जिन वासनाओं के पीछे रात दिन परेशान रहते हो वह स्वतः छूट जायेंगी। आनन्द तो परमात्मा में ही है, आत्मानन्द का जिसको एक बार अनुभव हो गया वह फिर विषयानन्द में कैसे फँसेगा ? आप लोग विषयों में मन को अधिक न लगाकर भगवान की तरफ लगाओ, भगवान अपना लेंगे तो फिर यह जन्म जन्मान्तर की दरिद्रता मिट जायेगी।

मनुष्य सुख की खोज में इधर उधर विषयों में धक्का खाता फिरता है। विषयों में तो सुख है नहीं। क्षण मात्र के लिये उसकी जिस विषय में वृत्ति एकाग्र हो जाती है, उसमें वह सुख का अनुभव करता है। यथार्थ में यदि विषयों में सुख हो तो फिर वहाँ से वृत्ति का उत्थान नहीं होना चाहिये, पर ऐसा नहीं होता। किसी को यदि दैवयोग से एक लक्ष रुपया मिल जाय तो थोड़ी देर के लिये वह आनन्द विभोर हो जाता है। उसे बड़ी प्रसन्नता होती है पर फिर वह रुपया हमेशा उसके पास पड़ा रहता है लेकिन उसको उसके पाने के समय का सा सुख फिर नहीं मिलता यदि यथार्थ में उसमें आनन्द ही चाहता है और आनन्द की ही खोज में वह विषयों में जाता है, वहाँ उसको आनन्द मिलता तो फिर दूसरे विषय में जाता है।

विषयों में जो क्षणिकानन्द का अनुभव होता है वह इसलिये कि उतनी देर के लिये उसमें वृत्ति स्थिर हो जाती है। **वृत्ति के स्थिर होने में ही आनन्द है** पर मनुष्य

(167)

और तत्त्वदर्शी ही गुरु पद वाच्य हो सकता है।

रागो लिंग अबोधस्य—अबोध का लिंग (चिन्ह) राग है। जिसमें राग है वह महात्मा नहीं हो सकता। जो तत्त्वदर्शी है वह संसार को तो तुच्छातितुच्छ समझता है संसार में उसका राग कैसे हो सकता है ? इसलिये यह देखना चाहिये कि संसार में इनका राग तो नहीं है। हो सकता है कि किसी वासना को लेकर कुछ समय के लिये कोई परम विरक्त बन जाय। तो एक दिन की विरक्ताई देखकर उसे महात्मा तो धोका दे जायेगा। इसलिये ठीक प्रकार से लगातार देखो कि इनमें कोई वासना तो नहीं है। केवल पाण्डित्य देखकर किसी पर मुग्ध नहीं होना चाहिये। चरित्र का निश्चय करके ही किसी को गुरु बनाओ। किसी भी काम में आतुरता ठीक नहीं। धैर्यपूर्वक सद्गुरु की तलाश करना चाहिये। आस्तिक भावों का दुरुपयोग मत करो।

जिसने अपना कल्याण कर लिया है वही दूसरे का कल्याण कर सकता है। जो बन्धन मुक्त है वही दूसरे को बन्धन से छुड़ा सकता है। जो स्वयं बँधा है वह दूसरे को कैसे छुड़ायेगा ? इसलिये गुरु उसी को बनाना चाहिये जिसमें गुरु के लक्षण हों।

शास्त्रों में लिखा है कि चार ही गुरु हो सकते हैं। **ब्रह्मचारी गृहस्थी च वानप्रस्थी च भिक्षुकः**। ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यासी ये चार ही गुरु हो सकते हैं। इनमें क्रमशः उत्तरोत्तर एक दूसरे से श्रेष्ठ हैं। **कमात् श्रेष्ठो विलक्षणः**। ब्रह्मचारी से गृहस्थ श्रेष्ठ है। गृहस्थ से वानप्रस्थ तथा वानप्रस्थ से सन्यासी श्रेष्ठ है। पर केवल आश्रम से कुछ नहीं होता उनमें योग्यता होनी चाहिये। नाम धारी वारी में कुछ भी हो कुछ नहीं कर सकता यदि परमात्मा में उसकी निष्ठा नहीं है। गृहस्थाश्रम कोई बुरा तो नहीं है। वशिष्ठादिक गृहस्थ ही थे परन्तु उच्चकोटि के ज्ञानी हुये हैं। गृहस्थाश्रम में भी ज्ञानी होते रहे हैं होते रहेंगे। ब्रह्मचारी ही है और पतित हो जाये

कि हमको ज्ञान का उपदेश करो। अष्टावक्र जी ने कहा कि पहले पात्र बनो तो ज्ञान हो सकता है। लिखा है—

अशिष्याय न दातव्यं

अपुत्राय न दातव्यं

सम्यक् परिक्ष्याय दातव्यं।

अशिष्य को उपदेश नहीं करना चाहिये, अपुत्र को उपदेश नहीं करना चाहिये। शिष्य हो या पुत्र हो उसकी भी सम्यक् परीक्षा लेकर ही उपदेश करना चाहिये। अतः पहले शिष्य बनो तब ज्ञानोपदेश के अधिकारी होंगे।

जनक जी ने पूछा फिर क्या करें ? अष्टावक्रजी ने कहा तन, मन, धन अर्पण करो। जनक ने सब अर्पण कर दिया। जब अपने पास कुछ रहा ही नहीं तो जनकजी को समाधि लग गई क्योंकि अब कोई स्थान ही रहा जहाँ मन जाता सब कुछ गुरु को अर्पण हो चुका था, मन भी गुरु को अर्पण कर दिया था।

अष्टावक्र जी ने पूछा तू कौन है ? पर जनक ने कुछ उत्तर नहीं दिया। परमार्थ वस्तु तो अभेद है, उत्तर भी क्या देते ? फिर जनक ने कहा आज्ञा हो तो मैं उत्तराखण्ड चला जाऊँ। अष्टावक्र ने कहा उत्तराखण्ड कैसे आओगे शरीर पर तो हमारा अधिकार है।

इस तरह अष्टावक्र जी ने जनक को आत्मानन्द का अनुभव कराया। जनक अष्टावक्र संवाद तो बहुत है। मतलब यह है कि मनुष्य को जब परमानन्द का अनुभव हो जाता है तो फिर इस तुच्छानन्द में उसकी वृत्ति ही नहीं जाती। मनुष्य जीवन का मूल्य यही है कि इसी जीवन में भगवान की प्राप्ति हो जाय।



गुरु उसी को बनाओ जिसमें गुरु के लक्षण हों

ज्ञानी और तत्त्वदर्शी ही गुरु हो सकता है।

दीपावली का असली तात्पर्य है कि बाहर की अपेक्षा अपने हृदय में दीपावली जगाने का प्रयत्न करो जिससे जन्म मरण के बन्धन से विमुक्त जाओ। **परन्तु ज्ञान ज्योति जगाने के लिये सद्गुरु की आवश्यकता पड़ती है।** गुरु की सम्यक् परीक्षा लेकर ही गुरु बनाना चाहिये। गुरु उसी को बनाओ जिसमें गुरु के लक्षण हों।

गुरु तो पूर्ण होता है, उसको कोई लोक वासना तो होती नहीं। गुरु की परीक्षा लेना यही है कि यह देखो कि उसमें काम (कामना) क्रोधादि का उद्भव तो नहीं है। यदि वह भी हमारी तरह से वासना के चक्कर में पड़ा रहता है तो फिर वह हमारा गुरु भाई ही है गुरु नहीं हो सकता। एक बार हम भी जब गुरु ढूँढ़ रहे थे तो एक महात्मा की बहुत ख्याति सुनी—गये तो मालूम हुआ कि अभी समाधि में हैं। हम भी वहीं रुक गये, जब बाहर आये तो हमने कहा ‘कुछ अग्नि की आवश्यकता है मिल जाय तो बड़ी कृपा होगी।’ वह दण्डी सन्यासी थे, यह सुनकर बहुत बिगड़े कुछ अपशब्द भी बकने लगे तो हम एक तरफ हट गये। जब वह शान्त हुये तो फिर उनके सामने आ गये कहा—“महाराज, अग्नि थी नहीं तो जली कहाँ से?” अर्थात् क्रोधाग्नि। इतना सुनना था कि उनका क्रोध एकदम जाता रहा, दौड़कर हमें उठा लिया कहा—‘बेटा! हम अवश्य अपने स्थान से च्युत हो गये।’ फिर कई, दिन उनके यहाँ रहे। उनकी इच्छा थी कि आश्रम में रह जायें बहुत अच्छा है परन्तु फिर हम वहाँ से चले गये।

तो परीक्षा लेने के संबंध में बतलाया कि **किसी की परीक्षा तभी होती है जब कोई विरोधी बात कही जाय और उनके मन में विकार न आवे।** पूजा करो, माला पहनाओ तो इसमें तो कई क्रोध नहीं करता। जो विपरीत परिस्थिति आने पर भी शान्त दान्त बना रहे वही ठीक है। जो स्वयं गिरा है वह दूसरों को क्या उठायेगा ? नौकरी के लिये तो इधर-उधर धक्का खाते फिरते हो पर गुरु ढूँढ़ने में प्रयत्न नहीं

(170)

करते जिससे कि परलोक बनना है। जैसा भी कोई मिला उसी को गुरु बना लिया ऐसा नहीं। **उच्चकोटि के गुरु की खोज करनी चाहिये। सद्गुरु की प्राप्ति हो जायेगी तो वह अपने आप आगे का मार्ग दिखायेंगे।** लिखा है—‘नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।’ अर्थात् ज्ञान के समान पवित्र कोई भी वस्तु नहीं है। यह सबसे श्रेष्ठ है। गीता में भगवान कहते हैं कि—

तद्विद्धिप्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।

उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्त्वदर्शिनः॥

(गीता 4.34)

हे अर्जुन! ज्ञानी तत्त्वदर्शी गुरु तुझे ज्ञान का उपदेश करेंगे। ज्ञान प्राप्ति के तीन उपाय हैं। पहले तो जो तत्त्वदर्शी महात्मा हों उनके पास जाओ प्रणाम करो, यदि प्रणाम करने पर ध्यान नहीं देते हैं तो प्रश्न करो क्योंकि वह तो ब्रह्मानन्द में निमग्न हैं। हो सकता है कि तुम्हारी तरफ उनकी वृत्ति न जाय परन्तु अवसर पाकर प्रश्न करना चाहिये। फिर तीसरा उपाय है ‘सेवया’ अर्थात् आश्रम में रहो। वहाँ रहकर उनकी सेवा करो। सेवा करते करते कभी अवसर मिल ही जायेगा।

आजकल लोग एकान्त को ही अवसर मान लेते हैं। जहाँ कुछ एकान्त मिला कि अपनी सब विपत्ति सुनाने लगते हैं। तो एकान्त तुम्हारा अवसर नहीं है। ज्ञानी तत्त्वदर्शी महात्मा की वृत्ति जब तुम्हारी तरफ जाय और पूछें कि कहो क्या चाहते हो, कैसे आये—वही तुम्हारा अवसर है।

भगवान ने ज्ञानी और तत्त्वदर्शी, गुरु के दो लक्षण बताये। अर्थात् गुरु विशेषण द्वै विशिष्ट—दो विशेषणों से युक्त होना चाहिये। **शास्त्र द्वारा परमात्मा के परोक्ष ज्ञान को ज्ञान कहते हैं और जिसको परमात्मा का साक्षात्कार हो चुका है वह तत्त्वदर्शी है।** दोनों में अन्तर है—बनाना और खाना। भोजन बनाने का प्रकार जान लेना ज्ञान है और उसको बनाकर खाना तत्त्वदर्शन है। इसीलिये ज्ञानी

(171)

आजकल चल रहे हैं सौ पचास वर्ष से चले होंगे पर हमारा जगद्गुरुत्व तो ढाई हजार वर्ष से है। हम जिस सनातन धर्म का प्रचार कर रहे हैं वह अनादि है और अनादि काल से इसी प्रकार इसका प्रचार होता चला आया है। कोई भी हो हमारा काम तो सुझाव देना है। हम यह नहीं कहते हैं कि शासन सत्ता से विरोध करो परन्तु मौन रहना भी ठीक नहीं। लिखा है— 'मौनं सम्मति लक्षणम्' मौन रहना सम्मति का लक्षण है। इसलिये मौन नहीं रहना चाहिये। राज्यपदाधिकारियों को सुझाव अवश्य देते रहना चाहिये। मौन रहोगे तो तुम भी इसी पाप के भागी बनोगे।

राज्यपदाधिकारियों को भी चाहिये कि वे भी जनता की इच्छा को देखकर काम करें। वे जनता के प्रतिनिधि हैं, जनमत की अवहेलना करना उचित नहीं। भारत में तो गोवध बन्द ही कर देना चाहिये, गोवध होते रहना स्वतंत्र भारत के लिये शर्मनामक है। भगवान कहते हैं कि—

श्रुतिस्मृतिमैवाज्ञे शास्त्रोल्लंघन वर्तते।

आज्ञाच्छेदी ममद्रोही स मद्भक्तोनमे प्रियः ॥

यह भगवान का वाक्य है कि— श्रुतिवेदस्मृति शास्त्र यह मेरी आज्ञा है, इसका उल्लंघन करके जो स्वेच्छा से वर्तता है वह मेरा भक्त होते हुए भी मुझे प्रिय नहीं है। इसलिये भगवान की आज्ञा मानो। हमें चाहिये कि वेदशास्त्र में लिखी बातों को मानें और अपने अधिकारानुसार कर्म करें। भगवान तो सर्वज्ञ हैं उनसे कुछ छिप नहीं सकता।

कर्मफल दात्रित्वात् सविज्ञम्।

कर्मों के फल को देता है इसलिये सर्वज्ञ है। अनन्तानन्त जीवों के कर्मों का एकाउण्ट रखना यह अल्पज्ञा का काम नहीं है। मनुष्य कर्म करने में तो स्वतंत्र है पर

अथवा कोई सन्यासी है पर भगवान में विश्वास नहीं तो बेकार है। तो कहने का मतलब यह कि योग्य से ही दीक्षा लेनी चाहिये। अयोग्य को गुरु बना लेना ठीक नहीं। जितने ही उच्चकोटि के गुरु होंगे उतना ही परमार्थ में आपको आगे बढ़ायेंगे। गुरु बनाना तो अनिवार्य है। जो जन्म से ही सिद्ध हों जैसे जड़ भरत आदिक हुए हैं उनकी बात अलग है पर सर्वधारण को तो गुरु बनाना ही चाहिये। इसलिये सोच समझकर किसी योग्य को गुरु बनाओ और उनके आदेशानुसार भजन पूजन करते रहो तो संसार बन्धन से छूट जाओगे।



पुण्य का संचय अधिक करो जिससे इसी जन्म में पार हो जाओ

भगवान को प्राप्त करके ही सुखी हो सकते हो।

संसार में सभी लोग दुःखी दिखलाई देते हैं। संसार दुःखक्रान्त है। सभी दुःखी हैं, कोई भी वर्ग ऐसा नहीं है जो दुःखी न हो। यदि यह कहा जाय कि अन्न वस्त्र की कमी से लोग दुःखी हैं तो ऐसा भी नहीं है, जिनके पास अन्न वस्त्र का ढेर लगा है वह भी दुःखी हैं तो इस दुःख की निवृत्ति कैसे हो ? दुःख की निवृत्ति तो सभी चाहते हैं पर उसके हटाने का समुचित प्रयत्न नहीं किया जा रहा है। वैध प्रयत्न होना चाहिये। प्रयत्न भी जो होता है वह ऐसा ही है जैसे कि कमरे में तो अन्धकार हो और बाहर सड़क पर प्रकाश किया जाय—किस लिये—कमरे का अन्धकार हटाने के लिये। तो जहाँ अन्धकार है वहीं प्रकाश करने से अन्धकार आयेगा। कमरे में प्रकाश करने से ही कमरे का अन्धकार हटेगा बाहर चाहे जितना प्रकाश करो उससे कमरे का अन्धकार नहीं हट सकता। इसी अशान्ति तो सूक्ष्म शरीर अर्थात् मन में है और उपचार स्थूल शरीर का किया जा रहा है। भौतिक पदार्थों से कभी भी मन की अशान्ति दूर नहीं हो सकती।

परमात्मा से विमुख होने का ही फल है कि दुःख आया। जब तक प्रभु को प्राप्ति नहीं कर लोगे तब तक सुखी नहीं हो सकते।

भगवान परम दयालू है वह अपने भक्तों की सभी आवश्यकताओं को पूरा करता है। भगवान कहते हैं जो जैसा मेरा स्मरण करता है वैसे ही मैं भी उसका स्मरण करता हूँ। तो हमारे स्मरण करने भजने में तो कई तथ्य नहीं हमारे तो न जाने कितने उपास्य देव हैं। रात्रि दिन संसार को ही भजते रहते हैं, मल-मूत्र को भी खाद के लिये भजते रहते हैं; परन्तु परमात्मा जो पूर्णकाम आप्तकाम है वह जब यह कहता है जो जिस प्रकार मेरा स्मरण करता है उसी प्रकार से मैं भी उसका स्मरण करता हूँ तो इससे बड़ा और क्या आश्वासन हो सकता है ?

कुछ समय निकालकर भगवान का भजन-पूजन अवश्य किया जाय। जिसके लिये अवकाश है, करते हो इतना काम रहता है कि कुछ समय नहीं मिलता, वह सब यहाँ छूट जायेगा साथ में कुछ भी जाने वाला नहीं। एक दिन यहाँ से जाना निश्चित है; जब जाना निश्चित है तो फिर कुछ पूँजी बना लो जो परलोक में सहायक हो। यहाँ कोई भी नहीं रहा—राम-कृष्णादि जब नहीं रहे तो तुम कैसे रहोगे ?

विश्वम्भर को भूल गये हो इसलिये नाना प्रकार के दुःख भोग रहे हो। त्रिकालज्ञ महर्षियों ने शास्त्र बनाया है वेद शास्त्र की मर्यादा को लेकर चलोगे तो लोक में सुखी रहोगे और परलोक भी बनेगा। भगवान कहते हैं—

का चिन्ताममजीणने यदिहरिर्विश्वम्भरोगीयते।

भगवान का नाम यदि विश्वम्भर-विश्व का भरणपोषण करने वाला है तो हमें अपने जीवन की क्या चिन्ता ? विश्वम्भर पर विश्वास नहीं है इसलिये अनाथ हो रहे हो। भगवान को आप लोग भूल गये हो तो वह भी चुपचाप बैठा है। भगवान की तरफ से कोई देर नहीं, देर तो हमारी तरफ से है, वह तो हमें अपनाने को हर

समय तैयार है। संसार का व्यवहार तो आप लोग चलाते रहो पर उसी में से कुछ समय निकालकर भगवान का भजन पूजन भी करो। पुण्य करने से पाप क्षीण होता है।

पुण्य का संचय अधिक करो जिससे इसी जन्म में भवसागर से पार हो जाओ। भगवान को प्राप्त करके ही सुखी हो सकते हो।



गोवध होते रहना स्वतंत्र भारत के लिये कलंक है

स्वतंत्रता प्राप्त होने पर गोवध बन्द करना शासन सत्ता का पहला काम था। राज्यपदाधिकारी जनता के प्रतिनिधि है, जनमत की अवहेलना करना उचित नहीं।

अपने यहाँ गौ का बड़ा महत्व है। गौ के रोम रोम में देवताओं का निवास है परन्तु कितने खेद की है कि भारत में अब भी गोवध बंद नहीं हो रहा है। स्वतंत्रता प्राप्त होने पर गोवध बंद करना शासन सत्ता का पहला काम था। जब तक विदेशी शासन था तब तो दूसरी बात थी पर जब अपने ही लोगों का शासन है तब तो गोवध उसी दिन बंद हो जाना चाहिये था। लाभ भी इसमें क्या है—कुछ थोड़ा सा चमड़ा बेच लेते होंगे, इसी लोभ से गोवध बन्द नहीं करत। परन्तु यह नहीं सोचते कि जनता जब गोवध नहीं चाहती तो इसको बन्द कर देने से जनता का कितना स्नेह प्राप्त कर लेंगे। यह इनकी भारी भूल है। राष्ट्र की भी इसमें कोई हानि नहीं। जनता का सहयोग प्राप्त रहेगा तो शासन में भी इनको बहुत सुविधा मिलेगी।

हम हिन्दुओं के पक्ष में बोलते हैं तो हो सकता है कि कोई गवर्नमेन्ट का आदमी भी इस सभा में बैठा हो वह कदाचित यह समझ ले कि यह हिन्दूमहासभाई है कि कोई समझो कि राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के हैं। हम किसी मत-मतान्तर को लेकर नहीं बोल रहे हैं हम तो सनातन धर्म का प्रचार करते हैं। ये मत-मतान्तर जो

भक्त ने कहा है—

विश्वम्भर मां भर नो चेद् विश्व बहिकुरु ।

उभयमपि कर्तुमऽशक्तः त्यज विश्वम्भराभिधम् ॥

हे विश्वम्भर ! हमारा भरण-पोषण करो यदि हमारा भरण-पोषण नहीं कर सकते हो तो हमें विश्व के बाहर कर दो । अगर दोनों नहीं कर सकते, न हमारा भरण ही कर सकते हो और न हमें विश्व के बाहर री कर सकते हो तो अपना नाम विश्वम्भर छोड़ दो । यह भक्तों की फटकार है । जो हमारा भाग्य है वह तो हमारे पास आयेगा ही ।

का चिन्ता मय जीवन यदि हरि विश्वम्भरो गीयते ।

नो चेत् अर्भक जीवनाय जननी स्तन्यं कथं निःसरेत् ॥

भगवान का नाम यदि विश्वम्भर है तो हमारे जीवन की क्या चिन्ता ? यदि नहीं मानते हो तो बताओ कि अर्भक बालक है उसके पीने को दुग्ध माता के स्तन में कैसे आ जाता है । बालक तो अभी गर्भ में ही है और माता के स्तन में स्तन्य उसके पैदा होने के पहली ही आ जाता है । परमात्मा को अब अन्दर (गर्भ में) रहने पर हमारी इतनी चिन्ता है तो क्या बाहर आने पर वह हमें भूल जायेगा । ऐसा नहीं है कमी हमारी ही तरफ से है उसकी तरफ से नहीं । विश्वम्भर सबकी रक्षा करता है । दुनियादारी में अपने को अधिक न फँसाकर कुछ समय भगवान का भी स्मरण करो । भगवान तो आपको अपनाने को तैयार हैं पर आप लोग उन्हें आने ही नहीं देते । भगवान को पाने का उपाय यही है कि उनका भजन-पूजन करो ।

यहाँ पर और भी साधु-महात्मा आये होंगे उनको आपने भेंट बिदाई दी होगी तो हमको भी देना चाहिये । हमारी बिदाई यही है कि आप दुर्गुणों को हमें अर्पण

फल भोगने में परतंत्र । क्योंकि फल तो भगवान देता है । किसी के तन्त्र में है तो ईश्वर, परमात्मा के तंत्र में है । भगवान को अन्धा बनाना ठीक नहीं । यदि कोई भूल हो जाय तो परमात्मा से यही प्रार्थना करनी चाहिये कि हमसे यह अनुचित कार्य हो गया है क्षमा किया जाय अब फिर ऐसा नहीं होगा । भगवान से निष्कपट भाव से प्रार्थना करनी चाहिये कोई छल छिद्र नहीं रखना चाहिये ।

पेट के लिये जगत् भर की उपासना करते रहते हो, यह सब यहीं छूट जायेगा केवल जो शुभाशुभ कर्म किये हैं वही साथ जायेंगे । जो ले जाने की चीज है उसके लिये तो अवकाश नहीं और यहाँ से कोई कुछ नहीं ले गया तो तुम कैसे ले जाओगे ? जो यहाँ से ले जाना है उसमें शास्त्र प्रमाण है और जो छोड़ना है वह तो प्रत्यक्ष ही है । इसलिये व्यवहार को तो चलाते रहो पर जो यहाँ से ले जाने की चीज है उसमें अधिक प्रेम रखना चाहिये भगवान से प्रेम बढ़ाओगे तो इसमें लाभ ही लाभ है ।



विचारपूर्वक जीवन बिताओ

समय थोड़ा है, दुराचार पापाचार में ही समय बिता दोगे तो फिर अन्त में पछताना ही शेष रह जायेगा । जहाँ तक हो सके शुभ कर्म करने में ही समय बीते तो अच्छा ।

दास्य भाव में हनुमान जी का पहिला नम्बर है । हनुमान ने भगवान राम की हर प्रकार से सेवा की । अपमान सहन किया । रावण की सभा में जब ले जाये गये तो राक्षसों के लात-घुँसे भी खाये पर मन में जरा भी यहा भाव नहीं आया कि इससे हमारा अपमान हो रहा है । हनुमान ने निष्काम सेवा की, कभी भी भगवान से कुछ याचना नहीं की और बराबर सेवा करते रहे । तो भक्ति करते हो तो हनुमान की नकल करो । हनुमान ने भगवान को ऋणी बना दिया । भगवान स्वयं कहते हैं कि

कपि! मैं तुमसे ऋण नहीं हूँ। कितना आदर है, इससे बढ़कर और क्या गौरव की बात हो सकती है।

भगवान से कुछ याचना मत करो। निष्काम भाव से सेवा करना ठीक है। भगवान से माँगोगे भी तो धनहीन हो तो धन माँगोगे, पुत्रहीन हो तो पुत्र माँगोगे। **स्त्री, धन पुत्र यह सब तो यहीं छूट जायेगा, यह कोई साथ जाने वाली चीज नहीं।** माँगने की भी योग्यता तो नहीं है। जन्म-जन्मातान्तरों से यह जीव गरीबी भोगता आया है। **भगवान जितना दे सकते हैं उतना कोई ही माँग नहीं सकता।** चार हाथ से जो चीज आयेगी उसे दो हाथ से कैसे दोओगे? कोई राजा रईस का लड़का है तो दस बीस हजार माँग लेगा, गरीब का है तो दस ही माँगोगे। तो जीव को तो माँगना भी नहीं आता। आप लोगों को यही चाहिये कि कर्म करते रहो पर कोई कामना न रखो।

दुराचाररतो वापी मन्नामभजनात्कपे।

सालोक्य मुक्तिमाप्नोति न तु लोकान्तरादिकम्।।

भगवान हनुमान से कहते हैं कि कपे! जो दुराचार रत है वह भी यदि मेरे नाम को भजता है तो वह मेरे लोक को प्राप्त होता है। अन्य लोकान्तरों को नहीं जाता अर्थात् सालोक्य मोक्ष हो जाता है। सालोक्य मोक्ष का अर्थ है अपने इष्टदेव के लोक में जाना। वहाँ से फिर कालान्तर में वह भगवान में लीन हो जाता है। लिखा है—

जीवो शिवः शिवाजीवः स जीवः सिवः।

तुषेणबद्धो ब्राह्मिणस्यत् तुषाभावेन तण्डुलः।।

जीव ही शिव है और शिव ही जीव है यह जीव शिव ही है। जैसे धान में जब तुष अर्थात् भूसी लगी रहती है तो वह धान कहा जाता है, परन्तु भूसी निकाल देने पर वही तण्डुल हो जाता है। उसी प्रकार **जब तक जीव में कर्म रूप बन्धन लगा**

(178)

रहता है तब तक उसकी जीव संज्ञा है और कर्म का नाश हो जाने पर वह ब्रह्म ही हो जाता है। कर्म तीन प्रकार का है—संचित, क्रियमाण और प्रारब्ध। संचित कर्म वह है जो जन्म जन्मान्तरों से करते आते आये और उसको भोगा नहीं। प्रारब्ध कर्म वह है कि जिन कर्मों से हमारा शरीर बना और प्रारब्ध कर्म भोगते हुए जो कर्म करते हैं वह क्रियमाण कर्म है। प्रारब्ध कर्म के बारे में लिखा है—

अवश्यमेव भोगतव्यं कृतं कर्मशुभाशुभम्।

नाभुक्तं क्षीयते कर्म कोटिकल्पशतैरपि।।

प्रारब्ध को तो अवश्य भोगना पड़ेगा। चाहे कोटि कल्प बीत जाये, पर अभुक्त कर्म बिना भोगे नष्ट नहीं हो सकता। इच्छा अनिच्छा, परेच्छा प्रारब्धत्रयम्। इच्छा प्रारब्ध, अनिच्छा प्रारब्ध और परेच्छा प्रारब्ध यह तीन प्रकार का प्रारब्ध है। अपनी इच्छानुसार जो भोगा जाय वह इच्छा प्रारब्ध है, अपनी इच्छा नहीं है पर उसको भोगना पड़े वह अनिच्छा प्रारब्ध है। जैसे यह तो किसी की इच्छा नहीं होती कि हम बीमार पड़ें हमें बुखार आ जावे परन्तु फिर भी भोगना ही पड़ता है। परेच्छा वह है जिसकी हमारी इच्छा नहीं पर किसी दूसरे से प्रेरित होकर किया जाय। जैसे हमारी इच्छा तो नहीं है पर किसी ने कहा एक कप चाय पी लो या चलो सिनेमा देख आवें तो यह परेच्छा प्रारब्ध है। यह प्रारब्ध तो हमारा ही है। यदि हमारा प्रारब्ध न होता तो आता ही क्यों? परन्तु इसमें हमें विचार कर लेना चाहिये कि यह विहित है या अविहित। यदि विहित है तब तो ग्रहण करो और अविहित है तो उसे त्याग दो।

जो भी भोग्य हमारे सामने आवें उसमें उचितानुचित का ध्यान रखना चाहिये। विचार करके अपने जीवन का समय बिताओ ताश खेलना, जुआ खेलना, सिनेमा देखना, इन सबमें अपने जीवन को नष्ट न करके शुभ कार्यों में समय को लगाओ। समय थोड़ा है इन्हीं सब बातों में समय बिता दोगे तो अन्त में पछताना ही शेष रह जायेगा। जहाँ तक हो सके शुभ कर्म में ही समय बीते तो अच्छा। किसी

(179)

भगवान पर विश्वास करके निरन्तर उसकी उपासना में लगे रहो तो एक दिन भगवान अवश्य तुम्हें अपना लेंगे। परन्तु धैर्य रखकर उपासना में तत्पर रहने की आवश्यकता है ऐसा नहीं कि 10-20 दिन या दो चार महीना जप-तप किया फिर छोड़ दिया। भगवान का भजन व्यर्थ नहीं जायेगा। न जाने कितने जन्म-जन्मान्तरों के पाप इकट्ठे हैं यही हमें भगवान के पास पहुँचने में प्रतिबन्धक हैं। भगवान का भजन करते करते जब बुद्धि शुद्ध हो जायेगी तो परमात्मा का अनुभव होने लगेगा।



भगवान से प्रेम होने के पूर्व घर छोड़ दिया तो कष्ट भोगना होगा

विषयों की इच्छा बनी रही और इष्ट में प्रेम हुआ नहीं ऐसी अवस्था में घर छोड़ना ठीक नहीं।

जगत तो त्यक्त ही है उसमें से केवल अपनी आसक्ति हटा लेने की आवश्यकता है।

आजकल मन्द वैराग्य में ही लोग घर बार छोड़कर विरक्त हो जाते हैं फिर जब वैराग्य शिथिल हो जाता है दुनियादारों के घर धक्का खाते फिरते हैं गोशाला के नाम से चन्दा माँगते हैं। वैराग्य के भी चार भेद हैं—मन्द वैराग्य, तीव्र वैराग्य, तीव्रतर वैराग्य, तीव्रतम वैराग्य। मन्द वैराग्य तो किसी काम का नहीं। कहीं घर में स्त्री से झगड़ा हो गया तो उससे उदासीन हो गये कहीं काम करते-करते बहुत परेशान हो गये तो काम से ही वैराग्य हो गया। परन्तु यह सब क्षणिक है। मन्द वैराग्य स्थायी नहीं होता। निमित्त आने पर कुछ देर के लिये उससे मन हट जाना यह मन्द वैराग्य है। पास पड़ोस में कोई मर जाता है तो श्मशान तक जाते समय सभी परम विरक्त हो जाते हैं परन्तु जैसे ही घर लौटे कि वह सब भूल जाता है।

(184)

कर दो और कुछ तो हम लेते नहीं, रुपया पैसा तो वेश्या को भी देते हो वही हमें भी दिया तो क्या हुआ ? इसलिये हम तो वही चीज माँगते हैं जो किसी को आपने नहीं दी। यहाँ यदि कुछ चढ़ाना ही चाहते हो तो अपने दुर्गुण को चढ़ाओ।



भगवान का भजन व्यर्थ नहीं जायेगा

भगवान पर विश्वास करके निरन्तर उनकी उपासना में लगे रहो तो किसी दिन भगवान तुम्हें अवश्य अपना लेंगे। भगवान में विश्वास की बहुत आवश्यकता है, आजकल तर्क-वितर्क के कारण लोगों का भगवान में विश्वास नहीं रह गया है। रही बात प्रत्यक्षवादियों की जो यह कहते हैं कि हम तो अन्धविश्वास नहीं करते प्रत्यक्ष को ही मानते हैं। पर उनसे पूछा जाय कि क्या कोई पुत्र को खिलाकर कोई विवाह करता है या पहले मुनाफा मिल जाय तो फिर रोजगार करेंगे, ऐसा कोई कहता है। संसार का सब काम विश्वास पर ही चलता है। पहले यह विश्वास हो जाता है कि मुनाफा होगा तभी लोग रोजगार करते हैं। विवाह करने से पुत्र उत्पन्न होगा इसी आशा पर तो विवाह करते हैं। विवाह करने पर भी गर्भाधान संस्कार के बाद नौ मास तक प्रतीक्षा करनी पड़ती है। स्कूल में जाते हो तो अध्यापक ए, बी, सी, डी या क, ख, ग जो भी हो जैसा वह बतलाता है वैसा ही मान लेते हो वहाँ पर क्यों नहीं तर्क करते कि हम इसे नहीं मानते क्या प्रमाण है कि यह ए, बी, सी, डी ही है ? उस समय तो मास्टर का वाक्य ही प्रमाण रहता है। तो यह अन्धविश्वास नहीं तो और क्या है ? मास्टर की बात में अन्धविश्वास न करते तो पंडित कैसे बनते ? यह अन्ध विश्वास का ही फल है कि आज कमाने लायक हो गये। तो जिस बात में अन्ध विश्वास किया जाय उसमें सफल हुए परन्तु जिस स्कूल में अभी नाम भी नहीं लिखाया उसकी बात ही क्यों करते हो ? पहले तो विश्वास ही करना पड़ता

(181)

है कार्य की सिद्धि तो बाद में होती है।

परमात्मा पर विश्वास तो तभी तक करना है जब तक कि भगवान का साक्षात्कार नहीं हो जाता। भगवान का साक्षात्कार जब हो गया तब तो देह गेह विस्मरण हो जायेगा फिर तो विश्वास करने की कोई बात ही नहीं होगी। शास्त्र और गुरु (सद्गुरु) में विश्वास करना चाहिये। **सद्गुरुओं के द्वारा बताये हुए मार्ग पर विश्वास करके चलोगे तभी ईश्वर मिलेगा।**

यदि प्रमादवश वेद शास्त्र में अन्ध विश्वास कर लिया तो भगवान की प्राप्ति नहीं हो सकी।

आप यदि स्वतंत्र होना चाहते हो तो परम स्वतंत्र परमात्मा की आराधना करो।

उपनिषद् का वाक्य है— 'सोऽक्षर परमं स्वराट्।' वह जो अक्षर-ब्रह्म है वही परम स्वतंत्र है।

एको देवासर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।

कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवले निर्गुणश्च।।

अर्थात् एक ही परमात्मा है जो सब प्राणियों में गूढ अर्थात् छिपा हुआ है, जैसे तिल में तेल, दुग्ध में घृत। जब तक दुग्ध में घृत छिपा हुआ है तब तक उससे घृत का काम नहीं ले सकते, दुग्ध में कोई पूड़ी बनाकर नहीं खा सकता यद्यपि घृत उसी दुग्ध में है। जब तक उसको मथकर घृत न निकाल लिया जाय। तब तक दुग्ध में घृत होते हुए भी वह हमारे किसी काम का नहीं। इसी तरह निर्गुण ब्रह्म भी सर्वत्र व्यापक होते हुये भी हमारे किसी काम का नहीं, उससे हमारा कल्याण नहीं हो सकता जब तक उसको प्रकट न कर लिया जाय। अनुभव घृत का तभी होगा जब उसका मंथन करोगे, उसी तरह परमात्मा का अनुभव तभी होगा जब उपासना करोगे। केवल यही सोच लेने से कि दुग्ध में तो घृत है ही घृत को प्राप्त नहीं कर

सकते। **भगवान को व्यापक मान लेने भर से कोई लाभ नहीं, उसको प्राप्त करना है तो उसका मंथन करो-ध्यान करो।**

सर्वभूतान्तरात्मा-परमात्मा सबका अन्तरात्मा है। वह सब प्राणियों के हृदय में निवास करता है। परमात्मा का उद्घाटन हृदय में ही होता है।

कर्माध्यक्ष सर्वभूताधिवासः परमात्मा समस्त भूत प्राणियों के कर्मों का अध्यक्ष है। अर्थात् वह सबके शुभाशुभ कर्मों का हिसाब रखता है। अनन्त जीव हैं उनके अनन्त कर्म हैं उन सबके कर्मों का एकाउन्ट रखना परमात्मा का ही काम है और वह सम्पूर्ण भूत प्राणियों का आश्रय है अर्थात् सभी प्राणी परमात्मा में ही वास करते हैं। परमात्मा से अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं। साक्षी-वह सबके शुभाशुभ कर्मों का साक्षी है। चेता-भगवान चैतन्य है तथा वह निर्गुण स्वरूप है—केवलो निर्गुणश्च। निर्गुण का अर्थ है सम्पूर्ण गुणों से भरा हुआ पर वह गुणों के आधीन नहीं है।

परमात्मा तो सर्वत्र व्यापक है परन्तु बिना प्रक्रिया के ज्ञान के क्या करे ? जीव अल्पज्ञ है वह अपने भेद को नहीं जानता। जिस क्लास में जो पढ़ता है वह उस क्लास की पूर्ण बातों का ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकता। जब वह आगे के क्लास में जाता है तब पिछले क्लास की बातों को समझता है। आगे के क्लास में जाकर ही पिछली बातों का पता लग सकता है।

संसार तो प्रेम का पात्र है ही नहीं। प्रेम तो परमात्मा से ही करना चाहिये। संसार में ऐसी भावना रखे जैसे मदारी का रुपिया। मदारी के बनाये हुए रुपये में सत्य नहीं होता। यदि वह सत्य होता तो दो चार पैसे के लिये आपके सामने हाथ क्यों फैलाता ? इसी तरह यह सारा जगत मदारी के रुपये के समान ही मिथ्या है इसमें सत्यता नहीं, सत्य तो परमात्मा ही है। इसलिये संसार में न फँसकर सत् वस्तु अर्थात् भगवान को प्राप्त करने का प्रयत्न करो। परन्तु भगवान को पाने के लिये पहले दीन बनो इस दीनता के साथ विश्वास भी होना चाहिये।

मुमुक्षु जब गुरु ढूँढ़ने निकलता है तब उसमें साधन चतुष्टय स्वतः आ जाता है। गुरु स्वयं भगवान है। भगवान उसकी सहायता करता है। जीव और ईश्वर में केवल उपाधि का अन्तर है। जीव मलिनोपाधि है और ईश्वर मायोपाधि है इसी से ईश्वर सर्वज्ञ है और जीव अल्पज्ञ। चैतन्य दोनों में एक ही है उसमें कोई भेद नहीं। चैतन्य में न तो सर्वज्ञता है और न अल्पज्ञता, सर्वज्ञता अल्पज्ञता उपाधि का धर्म है। वैसे तो शास्त्रों में चैतन्य के सात भेद बतलाये हैं—

जीवईश्वरचैतन्यं शुद्धचैतन्यमेव च ।

प्रमाता च प्रमेयं च प्रमाणं च कतं यथा ॥

जीव चैतन्य, ईश्वर चैतन्य, शुद्ध चैतन्य प्रमाता चैतन्य, प्रमाण चैतन्य और फल चैतन्य। ये चैतन्य के सात भेद हैं पर भिद्यते व्यवहातः। यह सब भेद व्यवहार दशा में है यथार्थ चैतन्य एक ही है। जीव और ईश्वर में जो अल्पज्ञता और सर्वज्ञता का धर्म है वह ऐसे ही है जैसे कोई व्यक्ति मिट्टी के मकान में बैठा है तो उसको बाहर की किसी वस्तु का ज्ञान नहीं हो सकता पर वही शीशे के मकान में बैठा रहे तो उसको बाहर की सब वस्तुएँ हस्तामलकवत् दिखेंगी क्योंकि शीशा मिट्टी से स्वच्छ है। इसी तरह से जीव मलिनोपाधि होने से अल्पज्ञ है और ईश्वर स्वच्छोपाधि होने से सर्वज्ञ है शुद्ध चैतन्य तो एक ही है।

जीव जब भगवान की उपासना करता है तो उसमें भी भगवान के गुण आने लगते हैं। भगवान को जान लेने पर भक्त भी भगवान ही हो जाता है। भक्त और भगवान में फिर कोई अन्तर नहीं रह जाता।



मन्द वैराग्य वाला भी यदि तीव्र वैराग्यवानों के साथ रह जाय तो तीव्र वैराग्यवाला हो सकता है पर यदि कुसंग में पड़ गया तो फिर सारा वैराग्य समाप्त हो जाता है। कुसंग से तो निरन्तर बचते रहना चाहिये। सत्संग से कुसंग का असर अधिक पड़ता है। लिखा है—

शुभाशुभाम्याम मार्गेण वहन्ति वासना सरित् ।

शुभ और अशुभ इन दो मार्गों से होकर वासनारूप नदी बहती है। अशुभ मार्ग से रोककर शुभ मार्ग में मन को लगाना यही पुरुषार्थ है। जन्म-जन्मान्तरों से यह जीव विषयों का उपभोग करता आया है। विषय की तरफ से इसकी प्रवृत्ति स्वाभाविक ही है। अब करना यह है कि विषयों की ओर से मन को हटाकर परमात्मा की ओर लगाओ। कहीं-न-कहीं तो मन को लगाना ही पड़ेगा, संसार को भजो चाहे परमात्मा को भजो।

जैसे किसी नदी के प्रवाह को जब बदलना होता है तो पहले उसके आसपास की जमीन मजबूत कर लेते हैं। बाद में उसके अगल-बगल की जमीन मजबूत हो गई तो फिर किसी भी दिन बाँध-बाँधकर उसके प्रवाह को बदल देते हैं। परन्तु जब तक उसके पास की जमीन मजबूत नहीं है तब तक बाँध नहीं बाँधा जा सकता। कच्ची जमीन में बाँध बाँधा जायेगा तो वह टूट जायेगा।

इसी तरह मन रूप नदी का प्रवाह तो विषयों की ओर चल रहा है अब उधर से रोककर इसको परमात्मा की ओर लगाना है। सत्संग करना यही आसपास की जमीन मजबूत करना है। सत्संग करते करते जब भूमिका पुष्ट हो जायेगी तो किसी दिन स्वतः यह भगवान को पकड़ लेगा। भगवान को एक बार अपना लिया, कुछ भगवत्सुख का इसे अनुभव हुआ फिर तो संसार में मन जायेगा ही नहीं। जब परमानन्द की प्राप्ति हो गई। तो फिर विषयानन्द में मन नहीं

जा सकता परन्तु एकाएक यदि चाहो कि संसार से मन को सर्वथा हटा लें तो यह नहीं हो सकता। सत्संग करते रहो किसी दिन भी मन में बात बैठ गई तो कल्याण हो जायेगा।

तो वैराग्य के संबंध में कह रहे थे कि मन्द वैराग्य निमित्त आने पर होता ही रहता है। पर प्रयत्न यह करो कि संसार से तीव्र वैराग्य हो जाय। मन्द वैराग्य को ही तीव्र वैराग्य बनाने का प्रयत्न करो। यह होगा कैसे ? साधु महात्माओं, वैराग्यवानों का संग करने से। भगवान से प्रेम होने के पहले ही घर छोड़ दिया तो कष्ट ही भोगना पड़ेगा। विषयों की इच्छा बनी रही और परमात्मा से प्रेम हुआ नहीं ऐसी अवस्था में घर छोड़ना ठीक नहीं। घर छोड़ोगे तो फिर वासना के चक्कर में इधर-उधर फिरोगे। परन्तु यदि भगवान से प्रेम हो गया और केवल भगवत्प्राप्ति की ही एक इच्छा शेष रह गई है, तो फिर सब विषय फीके पड़ जायेंगे कुछ अच्छा ही नहीं लगेगा। विषयों में आनन्द तो तभी तक मिलता है जब तक भगवान को पाने की प्रबल इच्छा नहीं होती। जिसको संसार से तीव्र वैराग्य हो गया है उसकी भोग वासनायें शान्त तो जाती हैं।

तीव्र वैराग्य की ही उच्चावस्था को तीव्रतर वैराग्य कहते हैं उसके बाद तीव्रतम वैराग्य है। तीव्रतम वैराग्य जब हो जाता है तब जगत भूल जाता है। **जब तक तीव्रतम वैराग्य नहीं होता तब तक संसार का भान होता रहता है।**

संसार से जब मन हटता है तभी मनुष्य परमात्मा की खोज करने चलता है। जब तक संसार में प्रेम रहता है तब तक उसको परमार्थ की तरफ प्रवृत्ति नहीं होती। विषयों में उसका इतना अधिक प्रेम रहता है कि वह उसको छोड़ना ही नहीं चाहता। उसी में वह आनन्द अनुभव करता है।

एक बार नारद भगवान विष्णु के पास गये। नारदजी के लिये कोई रोक-टोक

नहीं थी जब भी चाहे भगवान के पास जा सकते थे। वह तो भगवान के अनन्य भक्त थे। अनन्यों के लिये कहीं भी रोक-टोक नहीं रहती, तो शूकरों की सोचनीय दशा देखकर नारदजी ने भगवान से कहा कि इनकी बहुत पतित योनि है इस सबको बैकुण्ठ में बुला लिया जाय तो अच्छा हो।

भगवान ने कहा कि जाकर उनसे पूछो वह यहाँ आना चाहते हैं। नारदजी गये, जाकर शूकरों से पूछते हैं कि तुम्हारी बहुत घृणित योनि हैं बैकुण्ठ में चलो तो ठीक रहेगा। उनसे सबसे बैकुण्ठ का वर्णन किया। तो शूकर बोले कि क्या जो हम यहाँ खाते हैं वह बैकुण्ठ में है ? नारद ने कहा यह तो वहाँ नहीं है। तो उन्होंने कहा कि फिर हम वहाँ नहीं जायेंगे।

कहने का मतलब यह है कि संसार में इतना राग हो जाता है कि जीव उसे छोड़ना ही नहीं चाहता। **जिस जिस योनि में यह जीव जाता है उसी उसी में यह सुख मानने लगता है।** जब तक विषयों से सुख बुद्धि नहीं हटाई जायेगी तब तक यथार्थ सुख की प्राप्ति नहीं हो सकती।

यथार्थ में यदि किसी को दुःख है तो मुमुक्षु को ही है। भगवान का भक्त तो भगवदानन्द में निमग्न रहता है और विषयी पामर भोग विलास स्त्री-पुत्र में सुख का अनुभव करता है। परन्तु मुमुक्षु के लिये संसार के सारे सुख निरस हो जाते हैं और भगवान की प्राप्ति होती नहीं। संसार में तो उसको सुख दिखता नहीं और परमात्मा विमुख रहता है। **संसार में राग रहा नहीं और परमात्मा की प्राप्ति हुई नहीं यही मुमुक्षावस्था है।** इसी समय उसको सद्गुरु की आवश्यकता पड़ती है। जब तक संसार में प्रेम बना रहता है तब तक वह परमात्मा से विमुख रहता है। संसार की आशा जब तक बनी रहेगी तब तक मुमुक्षा जाग्रत नहीं होती। संसार से मन हटने पर ही उसे जिज्ञासा होती है।

जितना भगवान दे सकते हैं उतना आप माँग नहीं सकते

शुभ कर्म करो और उसके फलाफल को भगवान के ऊपर छोड़ दो!

कर्म से ही अन्तःकरण मलिन हुआ है और कर्म से ही शुद्ध होगा। अविहित कर्मों के करने से मलिनता आई है इसलिये विहित कर्म करके अन्तःकरण को पवित्र बनाओ। अधिकारानुसार विहित कर्म करो और उसके फल को अर्पण करते चलो ध्यान रखो कि—

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।

न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।

ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि॥

(गीता 17.13, 24)

हमारे यहाँ वेद शास्त्रों में तीन प्रकार से कल्याण का मार्ग बतलाया गया है। कर्म, उपासना और ज्ञान यही लौकिक पारलौकिक उन्नति के उपाय हैं। (कुत्सित) कर्मों के द्वारा ही अन्तःकरण मलिन हुआ है। और (शुभ) कर्मों के द्वारा ही उसकी शुद्धि हो सकती है। जिसे आपने बनाया है उसे आप बिगाड़ भी सकते हैं, जैसे कि आपने कोठी हाथ से बनाई, तो हाथ से ही बिगाड़ सकते हैं। कर्मों के द्वारा ही अन्तःकरण मलिन हुआ है तो कर्मों के द्वारा ही उसकी शुद्धि हो सकती है। कर्मों के द्वारा ही पूर्व जन्म के पाप नष्ट होंगे। पाँच प्रकार के कर्म अपने यहाँ शास्त्रों में बतलाये गये हैं—

नित्य, नैमित्तिक, प्रायश्चित, काम्य और निषिद्ध। इनमें से चार प्रकार के कर्मों का विधान शास्त्रों में बतलाया गया है और निषिद्ध कर्म करने का विधान नहीं है। इसलिये अपने अधिकारानुसार नित्य, नैमित्तिक, प्रायश्चित व काम्य कर्मों का

उपासना में तत्पर रहोगे तो परमात्मा का

अनुभव अवश्य होगा

भगवान परम दयालु है, वह भक्त की कभी उपेक्षा नहीं कर सकता।

आजकल संसार दुःखी है कोई भी वर्ग ऐसा नहीं है जो दुःखी न हो इस दुःख की निवृत्ति यदि चाहते हो तो परमात्मा की शरण लो।

अग्नि सर्वत्र व्यापक है। काष्ठ में भी है, जल में भी है, हममें तुममें सब जगह है। पर समान रूप से है घर्षण किये जाने पर ही प्रकट हो सकती है। समान रूप से जब तक अग्नि व्याप्त है तब तक उससे कोई काम नहीं लिया जा सकता, व्यापक अग्नि हमारे किसी काम की नहीं जैसे फर्नीचर में अग्नि है तो पर उसको जला नहीं सकती, जब तक उसको प्रत्यक्ष प्रकट न कर लिया जाय। इसी तरह परमात्मा भी सर्वत्र परिपूर्ण है पर व्यापक ब्रह्म हमारे किसी काम का नहीं जब तक उपासना करके उसे एक देश में प्रकट कर लिया जाय। उपासना के द्वारा ही भगवान प्रकट होते हैं।

काष्ठ को घर्षण करते रहो तो अग्नि अवश्य प्रकट होगी पर यह नहीं कहा जा सकता कि कितनी देर में प्रकट होगी। जब तक अग्नि प्रकट नहीं हो जाती तब तक लगातार घर्षण करने की आवश्यकता है। लगातार उपासना में तत्पर रहो, प्रयत्न करते रहो तो परमात्मा का अनुभव अवश्य होगा इसमें संदेह नहीं। परन्तु निरन्तर तत्पर रहने की आवश्यकता है। भगवान ने गीता में कहा है—

श्रद्धावान लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।

श्रद्धावान को ही ज्ञान होता है पर 'तत्परः संयतेन्द्रियः' निरन्तर उपासना में तत्पर रहे और जितेन्द्रिय रहे। उपासना में कुछ भी शिथिलता आई तो साक्षात्कार में विलम्ब हो सकता है। भगवान का सहारा ले लेने से समस्त पाप ताप नष्ट हो जाते

हैं। भगवान अपने भक्तों की सदा रक्षा करते हैं। प्रहलाद को उसके पिता ने कितना कष्ट दिया ? जल में डुबाया अग्नि में जलाया। जहाँ तक उससे हो सका प्रहलाद को कष्ट पहुँचाया पर भगवान ने सब जगह प्रहलाद की रक्षा की, प्रहलाद को जरा भी कष्ट नहीं होने दिया। आप लोग सब प्रहलाद ही हो। प्रहलाद कहीं इंग्लैण्ड, फ्रांस से नहीं आये थे, हमारे भारत के ही बालक थे, इन्हीं माताओं के गर्भ से उत्पन्न हुए थे। आप लोगों को प्रहलाद बनना चाहिये। भगवान भक्तों की उपेक्षा नहीं कर सकते। जगत के कल्याण के लिये उनको प्रकट होना पड़ता है। भगवान को भक्तों के लिये निराकार से साकार होना पड़ता है।



ठगो मत चाहे ठगा जाओ

स्मरण रखो कि संसार से जाना है और कुछ साथ नहीं जायेगा।

सतर्क होकर व्यवहार करो, ध्यान रखो कि किसी को तुम्हारे द्वारा धोखा न हो। हम तो यही कहेंगे कि धोखा खा जाना अच्छा पर किसी को धोखा देना अच्छा नहीं। किन्तु यदि ठगने और ठगाने में से कोई एक काम करना पड़े तो दूसरों से ठगा जाना अच्छा लेकिन दूसरों को ठगना अच्छा नहीं। कारण यह है कि कोई तुम्हारा भाग्य नहीं ले जा सकता। तुम्हारे प्रारब्ध में जो भोग्य है वह तुम्हारे पास अवश्य ही आयेगा उसको कोई रोक नहीं सकता।

यदस्मदीयं नहि तत्परेषाम्।

अर्थात् जो हमारा भोग्य है वह किसी और का हो नहीं सकता इसलिये यदि किसी को ठग लोगे तो ठगी हुई वस्तु तो समाप्त हो ही जायेगी पर उसका पाप आगे भोगने के लिये इकट्ठा हो जायेगा। इसलिये किसी को धोखा देकर अपना भविष्य मत बिगाड़ों। परमात्मा सर्वज्ञ है। अन्तःकरण में विराजमान है। हर क्षण की तुम्हारी

बात जानता है। ऐसा मत सोचो कि उसकी दृष्टि बचाकर कोई काम कर सकोगे वही तुम्हारे शुभाशुभ कर्मों का फलदाता है। उसे सदा अपने निकट देखोगे तो दुष्कर्मों से बचे रहोगे। ऐसा कर्म न करो कि पाप का संग्रह हो और आगे के लिये दुःख का सामान इकट्ठा हो जाये।

इसलिये जिस चीज को छोड़कर जाना है उसके पीछे दिन-रात परेशान मत रहो। कुछ ऐसी सामग्री संचय कर लो जो कि आगे की यात्रा में भी साथ दे। जो कुछ थोड़ा बहुत भगवान का भजन-पूजन सत्कार्य कर लोगे वही आगे साथ देगा।

भगवान की प्रतिज्ञा है कि जो मेरा अनन्य भाव से स्मरण करता है उसके लिये योगक्षेम (अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति और प्राप्त वस्तु का रक्षण) का प्रबंध मैं करता हूँ। भगवान की प्रतिज्ञा पर विश्वास करो और अनन्य भाव से उनके शरणागत हो जाओ तो लोक में भी सुख शान्ति का अनुभव करोगे और परलोक भी उज्ज्वल रहेगा।

धर्म का नाम सुनकर डरने की आवश्यकता नहीं

सदाचारपूर्वक धर्माचरण करने से हम लौकिक जीवन को भी सुखी बना सकते हैं और परलोक तो बनता ही है। कोई ईश्वर के अस्तित्व को न माने तो न माने परन्तु यदि वह संसार में सुख-शान्ति का साम्राज्य देखना चाहता है तो उसे अपने समान ही दूसरों को मानना होगा और इसके लिये अपने को कर्तव्याकर्तव्य निर्धारिणी मर्यादा में चलाना होगा। वह तभी हो सकता है जब स्वधर्म पर आचरण किया जाय। शास्त्र मर्यादा के विपरीत आचरण करके यह स्थिति प्राप्त नहीं की जा सकती इस प्रकार शास्त्र मर्यादित धार्मिक सिद्धान्तों का पालन सभी के लिए अनिवार्य हो जाता है।



थे, उस दिन पाठ में अधिक तल्लीन हो गये और ड्यूटी की याद नहीं रही। तीन घंटे की उनकी ड्यूटी थी। जब ड्यूटी का समय बीत गया तब उन्हें स्मरण हुआ कि आज देर हो गई। जल्दी-जल्दी करके किसी तरह खजाने पहुँचे और वहाँ जो ड्यूटी पर था उससे माफी माँगने लगे कि मैं आज देर हो गई क्षमा करना आपको बड़ा कष्ट हुआ। यह सुनकर ड्यूटी वाला कान्सटेबल बोला कि सरयू प्रसाद आज तुम्हें क्या हो गया है। क्या तुम्हारा दिमाग खराब हो गया है ? अभी तो तुम हमको चार्ज देकर ड्यूटी से वापस हो गये हो और फिर आकर ऐसा कह रहे हो। तुम्हारा ड्यूटी का समय तो पूरा हो गया है और तुम अपनी ड्यूटी समाप्त कर चुके हो। जब उसने कई बार ऐसा कहा और बार-बार विश्वास दिलाया तब सरयू प्रसाद को निश्चय हो गया कि वहाँ घर में हम भगवान के पूजन में रहे इसलिये यहाँ भगवान ने हमारी ड्यूटी की है।

सरयू प्रसाद ने सोचा धिक्कार है ऐसे जीवन को कि जिसमें इष्ट को इतना कष्ट उठाना पड़ा। उसने निश्चय किया कि अब ऐसा करना चाहिये कि फिर कभी अपने भगवान को कष्ट उठाने का अवसर न आये। उसी समय सरयू प्रसाद ने नौकरी छोड़ दी और आकर चित्रकूट में रहने लगे। वहाँ इनका अच्छा नाम हुआ। ये दिगम्बर रहते थे और दूर-दूर तक सरयूदास के नाम से इनको लोग जानने लगे। भक्तों के बीच में इनका मान अच्छा होने लगा।

जब भगवान खींचना चाहते हैं तब न कोई न कोई निमित्त बनाकर खींच ही लेते हैं। इसलिये अपना मुख्य ध्यान अपनी ड्यूटी की तरफ रखना चाहिये। भगवान के मिलने की चिंता न करो अपनी ड्यूटी करते रहो। भगवान का पूजन करते चलोगे तो अवश्य ही भगवान ख्याल करेंगे। पूर्व जन्म के पाप बहुत होने से कष्ट साध्य हैं पर असाध्य नहीं। भगवान के नाम का जप ध्यान, स्मरण, भजन, पूजन करते रहोगे तो धीरे-धीरे पाप नष्ट होते जायेंगे और अन्तःकरम स्वच्छ होता जायेगा।

अनुष्ठान करना चाहिये। अपने अधिकारानुसार कर्म करो और उसका फल भगवान को अर्पण करते चलो। अपने शुभ कर्मों के फल को भी भगवान से माँगना नहीं चाहिये, क्योंकि आप लोगों को माँगने का सहूर नहीं है। किसी बालक से पूछिये कि क्या चाहते हो तो यदि वह गरीब का लड़का होगा तो सौ दो सौ या हजार रुपया तक माँग लेगा और यदि किसी किसी धनिक का लड़का होगा तो लाख दस लाख या अधिक से अधिक एक करोड़ की इच्छा करेगा। इससे अधिक नहीं। इसलिये माँगने वाला जब माँगेगा तो अपनी हैसियत से माँगेगा। परमात्मा जितना दे सकता है उतना जीव माँग नहीं सकता, इसलिये घाटे के रोजगार में नहीं पड़ना चाहिये। परमात्मा का भजन, पूजन, उपासना करते चलो पर उनसे किसी चीज की याचना मत करो। ऐसा न करो कि शंकरजी को एक लोटा जल चढ़ाया और प्रार्थना करने लगे कि रोजगार में घाटा हो गया है, स्त्री बीमार पड़ी है, लड़का कहना नहीं मानता। सारी विपत्ति एक लोटा जल चढ़ाकर, सुना जाते हो ऐसा नहीं होना चाहिये। सत्कर्म करो और उसे भगवान को अर्पण करते चलो। लोक में भी सुखी रहोगे और परलोक में भी नहीं बिगड़ेगा।



पहले संसार को ही भज लो फिर परमार्थ को भजो

पहले संसार को भज डालो फिर परमार्थ का रास्ता साफ हो जायेगा। आप लोग संसार को नहीं भजते इसीलिये परमार्थ में रुकावट पड़ती है। हम तो यही कहते हैं कि संसार को पहले भज लो। सबसे पहले तो संसार ही परमार्थ में बाधक हो जाता है यदि उसको ठीक से समझा न जाय। संसार को भजने का अर्थ यही है कि संसार को अच्छी तरह समझ लो। इसका ठीक-ठीक क्या स्वरूप है इसका जब तक निर्णय नहीं कर लोगे तब तक यह बाधा करता रहेगा। बिना समझा संसार

ही कंटक है। जब संसार को समझ जाओगे तब यह परमार्थ में भी बाधक नहीं रहेगा।

जैसे एक किराकिरी आँख में पड़ जाती है तो जब तक वह आँख के बीच में घूमती रहती है तब तक तो कष्ट देती रहती है पर उसे आँख के किनारे लगा दिया जाय तो फिर आँख में रहते हुए भी वह कष्ट नहीं देती इसी प्रकार यह संसार है। जब तक इसका यथार्थ स्वरूप बुद्धि में नहीं आता तभी तक यह परमार्थ का विरोधी है और जिस समय इसके यथार्थ स्वरूप को पहचान लोगे उस समय यह रहते हुए भी बाधक नहीं रहेगा।

स्त्री, पुत्र, इष्ट, मित्रादि ही संसार है। इन सबों के संबंध में भली प्रकार विचार कर लेना चाहिये कि इनका वास्तविक स्वरूप क्या है ? ये कहाँ तक सुख के साधन हैं ? हमारा कहने का तात्पर्य यह नहीं कि इनसे व्यवहार मत करो। हम तो कहते हैं कि इनसे व्यवहार करो कि तुम्हें सब अपना अन्तरंग हितैषी ही समझें। पर अपने मन में इनका स्थान न बना लो। उदाहरण के लिये पुत्र को लें। पुत्र की वासना से कितने लोग दुःखी रहते हैं। पर क्या सुख पुत्र में है विचार करके देखो। यदि पुत्र नालायक निकल गया तो जन्म भर उसके नाम पर रोना पड़ता है और यदि लायक हुआ तो और ज्यादा नुकसान होता है। जो पुत्र माता-पिता की सेवा करता है वह माता-पिता के अन्तःकरण में अपना स्थान बना लेता है। हर समय माता-पिता उसी का ध्यान करते रहते हैं। इतना मोह उससे हो जाता है कि फिर मरते समय भी पुत्र ही ध्यान रहता है। इस प्रकार लायक पुत्र के द्वारा परमार्थ बिगड़ता है और नालायक के द्वारा लोक में अशान्ति रहती है। हम कहते हैं कि चक्रवर्ती राजा दशरथ जो इतने प्रभावशाली थे कि इन्द्र उनको अपना अर्धासन देता था और भगवान विष्णु स्वयं उनके पुत्र रूप में आये और फिर भी पुत्र से कितना सुख मिला यह आप लोग जानते

ही हो। हा राम हा राम कहकर बैलों की तरह चरण पटक-पटक कर दशरथ की मृत्यु हुई। तो भगवान विष्णु भी पुत्र रूप से आकर जब माता-पिता को सुख-शान्ति नहीं दे सके तो इन संसारी पुत्रों से आप लोग क्या सुख की आशा करते हैं ?

इसी प्रकार संसार की प्रत्येक वस्तु पर भली प्रकार विचार करके देख लो, कोई भी चीज यहाँ ऐसी सिद्ध न होगी जो वास्तव में सुख-शान्ति दे सके। इसलिये व्यवहार तो चलाओ पर संसार पदार्थों को और संसारी संबंधों को सुख-शान्ति का साधन मत मानो। जो पदार्थ हैं सब नश्वर हैं सब क्षणभंगुर हैं, अस्थायी हैं। किसी का स्वरूप कुछ सुखास्पद दिखता है तो वह भी नाश हो जाने वाला है। कुछ भी यहाँ का ऐसा नहीं है जो स्थिर हो या सुखास्पद हो। इस प्रकार अपनी बुद्धि में जमाकर यदि आप व्यवहार चलायेंगे तो कभी दुःख अशान्ति का मौका नहीं आयेगा। संसार की समस्त सामग्री को उसके वास्तविक स्वरूप में समझ लेना ही संसार को भज लेना है। संसार को समझकर परमार्थ का चिन्तन करोगे तो फिर मन जल्दी एकाग्र हो जायेगा। क्योंकि एक बार संसार को ठीक से समझ लेने पर फिर उसमें राग नहीं रह जायेगा और राग ही तो मन की अशान्ति का कारण है। राग तभी हटेगा जब संसार के स्वरूप पर अच्छी तरह मनन कर लोगे इसलिये हम कहते हैं कि पहले संसार को भज लो। फिर परमार्थ को भजो।



भगवान भक्तों को स्वयं अपना परिचय देते हैं।

जब परमार्थ की वासना बढ़ेगी तभी शान्ति मिलेगी।

ऐसे तो शास्त्रों में, पुराणों में भगवान के प्रकट होने के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं और महर्षियों ने अनुभव किया है किन्तु सदा से भगवान अपने भक्तों को परिचय देते हैं। यू.पी. के बाँदा जिले में एक पुलिस थाने में सरयू प्रसाद नाम के एक कान्सटेबल थे। उनकी ड्यूटी खजाने के पहरे में रहती थी। एक दिन सरयू प्रसाद को सबेरे समय भजन-पूजन में अधिक विलम्ब हो गया। वह रामायण का नित्य पाठ करते

बड़े आश्चर्य की बात है कि लोग कहते हैं कि 'भजन के लिये समय नहीं मिलता'। कितनी बड़ी भूल है। जीवन का जो मुख्य कार्य है उसको गौण (फालतू) समझ लिया गया है। क्योंकि जिस समय जीव माता के उदर में, गर्भ में रहता है उस समय यही प्रार्थना करता है कि हे भगवान! जल्दी से हमें इस नर्क से बाहर करिये जिससे हम आपका भजन-पूजन निरन्तर करते रहें। परन्तु कितनी बड़ी भूल है कि गर्भ से बाहर आकर अपनी प्रतिज्ञा भूल जाता है। जीवन में जो भी समय है सब भगवान के भजन के लिये है। होना यह चाहिये कि, हमेशा भगवान का भजन होता रहे और भजन के समय से समय निकालकर व्यावहारिक कार्य किया जाये। व्यावहारिक कार्य न कभी किसी के पूरे हुए हैं और न कभी पूरे हो सकते हैं। ऐसा सोचना भूल है कि जब कार्यों से अवकाश मिलेगा तब भजन करेंगे। जो ऐसा सोचते हैं उन्हें जीवन में कभी शान्ति प्राप्त नहीं हो सकती है। अपनी उपासना का समय निश्चित रखो।



ज्ञानी महात्मा रिद्धियों-सिद्धियों से घिरे हुए सदा तृप्त और समुद्रवत् पूर्ण होते हैं

महाराजश्री ने ज्ञानियों की उपमा समुद्र से दी और कहा कि जैसे समुद्र की कोई इच्छा न होते हुए भी सभी नदियों का जल समुद्र में जाता है, समुद्र नहीं चाहता कि नदियाँ आकर उसमें गिरें क्योंकि वह स्वयंपूर्ण है, उसी प्रकार ज्ञानी भी सब प्रकार से पूर्ण होता है उसकी कोई वासना नहीं रहती फिर भी रिद्धियाँ-सिद्धियाँ उसमें चारों तरफ से आती हैं। जैसे नदियों का शरण्य समुद्र है उसी प्रकार समस्त मायाकृत वैभव ज्ञानी की शरण में दौड़कर पहुँचता है। जैसे किसी का एक पुत्र हो और वह प्रवास में गया हो और सुनने में आ जाय कि वह आ रहा है, तो माता पागल सी

भगवान तो निकट ही हैं पर अन्तःकरण की मलिनता के कारण उनका दर्शन नहीं हो रहा है। मुख्य बात है कि अन्तःकरण की मलिनता दूर होना। इसके लिये प्रधान उपाय यही हैं कि जिस देवता के मन्त्र का जप करते हो उसके स्वरूप का ध्यान भी होना चाहिये चाहे थोड़ा ही हो पर स्थिर चित्त से हो। आवश्यक सब व्यवहार करते हुए व्यवहार के अन्दर ही एक समय नियत कर लो, पर नियत समय में मन को कहीं न जाने दो।

आजकल लोगों का चित्र इतना दुर्बल हो गया है कि हैं तो भगवान के अंश हैं, तो भ्रमर पर गुबरोले का काम करते हैं। जीव भ्रमर होकर भी गुबरोले की गोली ढकेल रहा है। गोबर की एक गोली बनाकर गुबरोला उसको ढकेलता रहता है, वह कहाँ उसको ढकेलकर ले जायेगा इसका कोई पता नहीं, परन्तु अपनी सारी शक्ति गोली के ढकेलने में लगाये रहता है। इसी प्रकार जीव भी वासना की गोली ढकेलता हुआ अपना सारा समय और शक्ति उसी में नष्ट करता रहता है।

विषय भोगों से न किसी को कभी तृप्ति हुई है, न हो सकती है। या तो विषय ही नष्ट हो जायेगा या हम ही नष्ट हो जायेंगे। वासनाओं के रहते हुए कभी कोई तृप्ति प्राप्त नहीं कर सकता। यदि खुजलाने से खाज अच्छी हो सकती हो तो भोग से वासना की पूर्ति मानी जाये। जितना खुजाओगे उतनी ही खाज बढ़ेगी। वासना के पीछे जितना फिरोगे उतनी ही वासनायें बढ़ती जायेंगी उनका कभी अन्त न होगा। **वासनाओं को कम करना चाहते हो तो भगवान से मिलने की ही वासना दृढ़ करो।**

जब एक वासना दृढ़ हो जायेगी। तो अन्य वासनायें शिथिल पड़ जायेंगी। वासना से वासना की निवृत्ति होती है। परमार्थ की वासना बढ़ेगी तो अवश्य ही व्यवहार की वासना कम होगी। बिना वासनायें कम हुए मन को शान्ति नहीं मिल सकती।



परमार्थ का रास्ता व्यवहार से ही होकर जाता है

इसलिये व्यवहार को शास्त्र की मर्यादा के अनुसार बनायो। व्यवहार अमर्यादित हुआ तो परमार्थ का पता नहीं चलेगा।

सुख-शान्ति तो सभी चाहते हैं। जगत में ऐसा कोई नहीं है जो सुख-शान्ति न चाहता हो और देशों की बात तो हम नहीं कह सकते, पर अपने भारत का यही सिद्धान्त है कि वेद-शास्त्र अनुसार कर्म करने से ही सुख-शान्ति का अनुभव हो सकता है।

भगवान कृष्ण ने गीता में स्पष्ट कह दिया है कि—

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।

न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥

(गीता 16.23)

जो शास्त्रविधि का उल्लंघन करके अपने मनचाहा कार्य करते हैं उनको न किसी कार्य में सिद्धि मिलती है न सुख होता है और न चिरस्थायी शान्ति मिलती है। इसलिये जिन्हें अपने जीवन में सफलता प्राप्त करनी है और स्थायी सुख-शान्ति का अनुभव करना है उन्हें अपने अधिकार के अनुसार शास्त्र विधानों को देखकर ही कार्य करना चाहिये।

धर्मशास्त्र की मर्यादाओं का पालन करना सरल है, कठिन नहीं। बिना जाने ही कठिन मालूम पड़ता है। एक बार समझ लेने की ही आवश्यकता है, प्रातःकाल से ही सोने के समय तक के अपने सारे कार्यों को किस ढंग से करना चाहिये यह एक बार मन में बैठा लेना चाहिये। सोने के पश्चात् किस प्रकार से उठना चाहिये, किस प्रकार से शौच आदि क्रिया करना, किस प्रकार से सन्ध्या, वन्दन, जप, होम, पाठ आदि करना, किस प्रकार से भोजन करना, किस प्रकार से व्यापार आदि करना,

(198)

आदि करना, फिर किस प्रकार से सायंकाल आदि में सन्ध्या करना और किस प्रकार से रात्रि में सोना यह सब अच्छी तरह से समझ लोगे और उसके अनुसार नित्य अपना कार्य करते रहोगे तो जीवन में दुःख का अवसर कम आयेगा, सुख-शान्ति का अनुभव होगा और लोक, परलोक दोनों उत्तम बनेंगे।

यह स्मरण रखना चाहिये कि परमार्थ का रास्ता व्यवहार से ही होकर जाता है, यदि व्यावाहिक कार्य शास्त्र की मर्यादा के अनुसार किये जायेंगे तो निश्चय है कि परमार्थ में भी आगे बढ़ते जाओगे।



परमात्मा व्यापक है तुम्हारे अन्दर भी है

पास की वस्तु को दूर देखोगे तो उसे ढूँढ़ने में देर लगेगी, भगवान के भजन का समय अवश्य निश्चित रखो।

शास्त्रों का सिद्धान्त है और महर्षियों का अनुभव है कि सर्वत्र चराचर में परमात्मा व्यापी है। किन्तु जब तक एक देश में प्रकट कर इसका अनुभव न कर लिया जाय, तब तक व्यापक परमात्मा से कोई लाभ नहीं। जिस प्रकार लकड़ी के पटिये में अग्नि सर्वत्र होते हुए भी उससे काष्ठ जल नहीं सकता। लकड़ी की व्यापक अग्नि न तो लकड़ी के लिये साधक है और न बाधक, उसी प्रकार व्यापक परमात्मा न साधक है और न बाधक। लकड़ी को रगड़कर जब एक स्थान में अग्नि प्रकट कर लिया जाता है तभी उससे कुछ काम हो सकता है, इसी प्रकार साधन के द्वारा जब परमात्मा को एक देश में प्रकट करके उसका अनुभव कर लिया जाता है तभी उससे लाभ होता है। परमात्मा को प्राप्त करने के लिये कहीं जंगल झाड़ी में जाने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि जब वह सर्वत्र व्यापक है तो फिर उसकी खोज में दूर जाने की आवश्यकता नहीं। अपने अन्तःकरण में ही उसे ढूँढ़ना चाहिये।

(199)

अपने उज्ज्वल भविष्य का निर्माण अपने हाथ जिससे

अनन्त-शक्ति और अखण्ड आनन्द प्राप्त हो

प्रत्येक मनुष्य की लौकिक पारलौकिक उन्नति के लिये शास्त्रों में विधान बताये गये हैं। मनुष्य की उन्नति का मार्ग उसके लिये कठिन नहीं है यदि वह उसे जानकर उस पर चलने की इच्छा करे तो। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र चारों वर्णों और ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं सन्यास चारों आश्रम के लोगों के लिये उनकी योग्यता और परिस्थिति के अनुसार जो दिनचर्या शास्त्रों में बताई गई है उसी के अनुसार आचरण रखने से अवश्य ही लाभ होता है।

शास्त्रीय दिनचर्या ही भगवान के पास पहुँचने का सुगम मार्ग है। शरीर, इन्द्रिय, हाथ-पैर आदि की हलचल तो दिनरात होती ही रहती है। अपनी इन्हीं हलचलों को एक नियमित रूप से किया जाय तो यही अखण्डानन्द अनन्त शक्तिस्वरूप भगवान की प्राप्ति का मार्ग बन जाता है।

कितना सरल मार्ग कर दिया है भगवान ने जीव को अपने पास बुलाने का पर, फिर भी लोगों से करते नहीं बनता। भोजन सभी करते हैं, यदि भोजन के पहले मानसिक रूप से भगवान को थाली अर्पण कर दी जाय तो क्या हानि है ?

‘श्रीकृष्णार्पणमस्तु’ या ‘शिवार्पणमस्तु’ या ‘रामार्पणमस्तु’। इस प्रकार से अपने इष्ट का क्षण भर ध्यान करके यदि भोजन अर्पण कर दिया जाय तो भोजन तो कहीं जायेगा नहीं और इसमें कुछ समय भी नहीं लगता। केवल अर्पण की भावना बनाना है। इस प्रकार से भगवान को अर्पण करके यदि भोजन किया जायेगा, तो उसके द्वारा अन्तःकरण की शुद्धि होगी और उसका फल यह होगा कि मानसिक शान्ति का अनुभव होगा और मन में कुवासनाओं की कमी होगी। विचार उत्तम रहेंगे आध्यात्मिक उन्नति भी होगी और भौतिक कार्य भी जो किये जायेंगे वे बलशाली

होकर दौड़ पड़ती है, उसके प्रेम का ठिकाना नहीं रहता उसी प्रकार समुद्र के निकट नदियों की हालत होती है, बिना बुलाये, बिना प्रयोजन तेजी से समुद्र में जाकर मिलती हैं। उसी प्रकार ज्ञानी के पास माया का वैभव पहुँचता है पर वह विचलित नहीं होता। ज्ञानी-महिमा, अणिमा, रिद्धियाँ और सिद्धियाँ आने पर भी समुद्रवत् ध्रत मर्यादा रहता है। जिस प्रकार समुद्र में कभी बाढ़ नहीं आती उसी प्रकार ज्ञानी विचलित नहीं होता।

एक बार हम मानिकपुर के निकट के जंगल में थे। वहाँ से तीन मील पर अगरौला नाम का ग्राम है। वहाँ एक महात्मा रहते थे। कुछ धूर्तों ने उनको बदनाम करने के लिये अर्द्धरात्रि में एक वेश्या को उनके पास भेज दिया। महात्मा ने उसको देखकर उसका बड़ा स्वागत किया और कहा कि अच्छा हुआ आ गई। उसको बैठाकर महात्मा भजन करने लगे, एक घण्टे के बाद उसके शरीर में कंपन होने लगा और गर्मी बढ़ने लगी। तब वह वहाँ से उठकर भागी और जाकर अपने साथियों से बताया कि वहाँ तो मेरा शरीर जलने लगा था यदि मैं वहाँ से भागती न तो जल जाती। ऐसे महात्मा के पास हमें क्यों भेजा ? वे बड़े ही प्रभावशाली महात्मा हैं। तब उन दुष्टों ने माना कि महात्मा बड़े अच्छे हैं।

तात्पर्य कहने का यह है कि महात्मा के पास कोई भी जाय पर वह चलायमान नहीं होते समुद्र में बाढ़ आ सकती हो तो महात्मा भी विचलित हो सकते हैं। विचलित न होना, याने कोई चीज पास में आई तो उससे कोई लाभ न लेना। इनके पास कोई काम ही नहीं होता। एक ही कामना थी भगवान में लीन होने की वह भी ज्ञान होने पर पूर्ण हो गई। इसलिये वे सदा तृप्त और समुद्रवत् पूर्ण होते हैं।



जो काम स्वयं कर सको उसी में हाथ लगाओ

दूसरों के बल पर काम उठाने से अशान्ति ही हाथ लगेगी।

ध्यायतो विषयान्मुंसः संगस्तेषूपजायते—जब मनुष्य बैठे-बैठे विषयों का चिन्तन करता है तब स्वाभाविक ही उनके पाने के लिये उसकी इच्छा होती है। बैठे-बैठे धन या स्त्री का चिन्तन करते रहना यही पहली भूल है और पहला दुर्भाग्य उदय हुआ जो कि मनुष्य जीवन का परम चिन्त्य परमात्मा है उसको छोड़कर सांसारिक विषयों का चिन्तन करते हैं जो जिसकी चिन्ता करेगा उससे मिलने की उसकी इच्छा भी होगी, चिन्तन हुआ फिर संग की इच्छा हुई, इच्छा होने पर संग हुआ, संग होने पर कामना हुई। फिर नाना प्रकार की कामनायें बढ़ती जाती हैं—संगात्जायते कामः।

आजकल साधु महात्मा के सम्पर्क में लोग आते हैं तो शिष्य नहीं बनते गुरु बन जाते हैं। कहने के लिये तो शिष्य होते हैं पर वास्तव में गुरु ही बनते हैं। क्योंकि जिसका जिस पर प्रभाव पड़े वही उसका गुरु। साधुओं की साधुताई का प्रभाव तो सांसारिक लोगों पर कम देखा जाता है। कोई राजा रईस कोठी वाले सम्पर्क में आये तो अपनी भी एक दो कोठी बनाने की वासना उत्पन्न हो जाती है। तो जिन लौकिक वासनाओं में सांसारिक लोग पड़े हैं, उन्हीं लौकिक वासनाओं ने उन्हें भी अपनी ओर खींच लिया और हम संन्यासियों को परमात्मा की ओर न खींच सके तो यही वास्तव में हमारे गुरु हुए। इस तरह संग से ही कामना बढ़ती है और कामना की पूर्ति न होने पर—कामत्क्रोधोभिजायते।

देहात में यदि वृष्टि नहीं होती तो परमात्मा को ही लोग गाली देते हैं और इसलिये गाली देते हैं कि उसको समर्थ मानते हैं। परमात्मा सर्वशक्तिमान है और

हमें सहयोग नहीं देता, इसलिये हमें गुस्सा आता है। स्त्री दस बजे रोटी बना सकती थी पर उसने नहीं बनाई इसलिये उस पर क्रोध आता है। समर्थ होते हुए काम नहीं किया यही क्रोध का कारण है। मरे नौकर पर कोई क्रोध नहीं करता। असमर्थ पर क्रोध नहीं होता। काम ही सोच समझकर बनाना चाहिये जिससे हमारे सामने क्रोध के अवसर आने की सम्भावना न रहे। हमारे सामने कई संस्थाओं की स्कीम में आती हैं। बहुत लोग हमें अपनी स्कीमों में लेना चाहिते हैं। पह हमें बहुत विचार करना पड़ता है। हम विचार करते हैं कि आज तक जो संकल्प हमारा हुआ है वह पूरा हुआ है, इन संस्थाओं में कोई ऐसे लोग हों जो सत्य संकल्प करने वाले हों। इनकी सब कामनायें हमें अपने ही गले बाँधना पड़ेगी। वही हाल होगा कि एक बार सियार ने ऊँट से कहा कि खरबूजे के खेत में खरबूजे अच्छे पके हैं चलो आज वही खायेंगे। ऊँट सियार की बातों में आ गया। दोनों खेत में घुस गये। सियार तो भीतर-भीतर खरबूज खाता रहा पर ऊँट को ऊपर से देख लिया गया, सियार तो भाग गया पर पिटाई पड़ी ऊँट पर इसी कारण जानते हुए भी कि काम अच्छा है, हिम्मत नहीं पड़ती संस्थाओं में भाग लेने की। वैसे तो हम बोलते ही हैं। पर ये सब काम ऐसे हैं कि कभी भी हम इनको रोक सकते हैं नहीं इच्छा हुई कुछ दिन के लिये काम रोक दिया। जब तक काम चलाना या बंद करना है अपने अधिकार में रहता है। तब तक अशान्ति नहीं होती और दूसरों के काम में हाथ लगाओ तो ऊपर से तो मालूम पड़ता है कि सब सहायक हैं साथ दे रहे हैं। परन्तु होता यह है कि सारा भार सिर पर आ जाता है और सब लोग हाथ खींच लेते हैं। इसलिये हमारा तो सिद्धान्त है कि उतना ही काम उठाना चाहिये जो अपने स्वयं बल से किया जा सके। दूसरों के बल पर काम बनाने से अशान्ति ही हाथ लगती है।



को बुलाते-बुलाते, पुकारते-पुकारते सुनना ही पड़ेगा। दरवाजा खटखटाते रहो तो देर चाहे जितनी लगे पर दरवाजा खुलेगा अवश्य। दरवाजा खटखटाते रहो तो पाप नष्ट होते जायेंगे और पाप ही बाधक है परमात्मा से मिलने में। प्रयत्न करते-करते परमात्मा की कृपा का अनुभव होने लगेगा।

जिन्होंने खोजा है उन्होंने पाया है इसमें सन्देह नहीं। पर बैठे-बैठे केवल कुतर्क करते रहो तो चाहे सारा जीवन व्यतीत हो जाय पर सुख-शान्ति से भेंट नहीं होगी।



मन को पवित्र बनाओ लोक-परलोक दोनों बनेगा

मनुष्य के जीवन में स्थूल शरीर की प्रधानता नहीं होती सूक्ष्म शरीर की प्रधानता होती है। स्थूल शरीर तो ढाँचा मात्र है—उसका संचालक है सूक्ष्म शरीर मन और बुद्धि। मनुष्य का जैसा मन होता है उसी के अनुसार ही उसकी इन्द्रियाँ और शरीर काम करता है, इसलिये मन को सम्हालिये। मन को पवित्र बनाने के लिये योग शास्त्र के प्रणेता महर्षि पातांजलि ने उपाय बताया है कि मन को—मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा इन्हीं चार वृत्तियों में रखो।

अपने बराबरी वालों में मित्रता की भावना अपने से छोटों या अपने से दुःखी लोगों पर करुणा-दया का भाव, अपने से जो अधिक सुखी, अधिक विद्वान या किसी भी अंश में बड़े हों उनको देखकर प्रसन्नता का भाव बनाना और जो अपने से द्वेष शत्रुता आदि का भाव रखें उनके प्रति उपेक्षा की भावना रखना—यह नहीं कि उनके प्रति अपने मन में भी शत्रुता और द्वेष की भावना बनायें। इस प्रकार चार ही वृत्तियों में अपने मन को रखने से ईर्ष्या, द्वेष, मत्सर आदि भाव कभी मन में उठने नहीं पाते और स्वाभाविक रूप से मन की पवित्रता बढ़ती जाती है और मानसिक

होंगे और उत्तम फल देंगे। भगवान को अर्पण करके भोजन करने से हानि कुछ भी नहीं लाभ ही लाभ है। इसी प्रकार जो कार्य करो उसके पहले भगवान का स्मरण कर लो। तो हानि कुछ भी नहीं होगी लाभ ही लाभ होगा। इसी प्रकार अपने कार्यों में और सभी हलचलों में भगवन का स्मरण करते रहोगे तो जीवन में बड़ी शान्ति का अनुभव होगा और कार्यों का फल, जैसा प्रारब्ध है वह तो होगा ही भगवद् स्मरण से उस फल की उत्तमता में भी अवश्य ही वृद्धि रहेगी इसमें संदेह नहीं।

अपने दैनिक कार्यों में सत्य, दया, अहिंसा, परोपकार आदि सात्विक भावनाओं की अधिकता रखो और अपनी दिनचर्या ऐसी बनाओ कि शास्त्रों में जो तुम्हारे लिये नित्य-कर्म बताये गये हैं उनके करने में कोई बाधा न पहुँचे। अपने उठने, नहाने-धोने, शौच, संध्या, देवाराधन, भोजन, स्वाध्याय और शयन के जो आवश्यक विधान हैं वे नियमित रूप से होते रहेंगे तो शीघ्रतापूर्वक सर्वशक्तिमान आनन्दस्वरूप भगवान की ओर बढ़ते जाओगे। लोक भी उत्तम बनेगा और परलोक भी उज्ज्वल रहेगा।

यह कभी नहीं भूलना चाहिये कि अपने भविष्य का निर्माण सदा अपने हाथ में है। प्रबल पुरुषार्थ के आगे प्रारब्ध घुटने टेक देता है। सोचकर उत्तम पुरुषार्थ करो जिससे प्रतिदिन उन्नति-पथ पर अग्रसर होते जाओ।



धर्महीन शिक्षा अनर्थों का मूल है

जब तक मनुष्य पाप करने से नहीं डरेगा और पुण्य कर्म में उसकी प्रवृत्ति नहीं होगी, तब तक मनुष्य पाप, पुण्य को पहचानेगा नहीं तब तक भ्रष्टाचार, दुराचार, पापाचार बन्द नहीं हो सकता। चाहे जितने निरोधक विभाग खोल दिये जायँ।

सरकार का करोड़ों रुपया जेलों और पुलिस आदि विभागों में खर्च होता है परन्तु जेलों का काम ही न पड़े ऐसा कार्य सरकार नहीं कर रही है। चोरी करने से

पाप बढ़ता है, व्यभिचार पाप है, दूसरों को धोखा देना पाप है और पाप का फल लोक में भी दुःख और परलोक में भी दुःख और नरकप्रद होता है यह शिक्षा संस्थानों में सिखाया नहीं जाता।

जब तक छोटी आयु में ही बालकों को पाप-पुण्य का स्वरूप और उसके फल का बोध नहीं कराया जायेगा तब तक देश में दुराचार, पापाचार, भ्रष्टाचार बन्द नहीं हो सकता। बालकों को पाप-पुण्य का बोध धार्मिक शिक्षा के द्वारा ही हो सकता है।

वर्तमान अधार्मिक शिक्षा का ही फल है कि पापाचार, भ्रष्टाचार करने में लोगों को तनिक भी हिचक नहीं होती। जब तक धार्मिक शिक्षा नहीं होगी तब तक सुधार की कोई आशा नहीं, धार्मिक शिक्षा का अभाव ही इन सारी बुराइयों की जड़ है।



कहीं भी रहो मन में कमजोरी मत आने दो जहाँ रहो मस्त रहो

चित्त में कमजोरी आना भी भारी विपत्ति है। कोई विपत्ति भी आये तो भी चित्त में कमजोरी नहीं आने देना चाहिये। चित्त में दृढ़ता रहेगी तो बड़ी विपत्ति भी हँसते-हँसते भोग लगे और चित्त में कमजोरी आई तो छोटी विपत्ति भी पहाड़ मालूम पड़ेगी। अपने प्रारब्ध के भरोसे या विश्वम्भर परमात्मा के बल पर निश्चित रहना चाहिये।

एक समय हम ऋषीकेश में थे जब वहाँ साधु लोग औँरा और बेर खाकर रहते थे। गंगाजी में जोर की बाढ़ आई, सब लोग भाग गये पर दो महात्मा नहीं भागे। इनके मंच गंगाजी में थे और दो बड़े-बड़े पेड़ों से बँधे थे, वे लोग नहीं भागे। शाम हो गई, हमने सोचा कि देखना चाहिये ये लोग किस आधार पर धारा में बाढ़ के समय भी हैं। किनारे के एक पेड़ पर हम भी चढ़ गये। हमने सोचा कि जब इनका मचान बहेगा तब हमारा पेड़ भी उखड़ेगा। (हँसी) आधी रात्रि में चढ़बड़ की

आवाज हुई और एक मंच के रस्से टूट गये उस पर बैठे महात्मा ने दूसरे से कहा—

‘स्वामी ऊँ हरि हम तो चलो’

दूसरे महात्मा ने अपे मचान से उत्तर दिया कि—‘देखना मन में कमजोरी न आने पाये जहाँ रहना, मस्त रहना’ वीरभद्र के पास जाकर मचान किनारे से लग गया। उनका प्रारब्ध था कि त्रिवेणी की भँवर में मचान पार हो गया डूबा नहीं। कोई भी कारण नहीं था कि इतनी बाढ़ में मचान बच जाता पर बच गया और सबेरे लोगों ने उनको निकाल लिया। सिद्धान्त यही है कि चाहे विरक्त हो चाहे गृहस्थ हो पर मन में कमजोरी नहीं आने देना चाहिये, चाहे जैसा समय आ जाय, कितनी भी विपत्ति सामने दिखे पर मन में दृढ़ता रखना चाहिये पर कमजोरी तभी नहीं आयेगी जब भीतर से परमात्मा का सहारा होगा।

यदि परमात्मा का सहारा नहीं है तो कमजोरी आ ही जायेगी वह किस आधार पर टिकेगी ? परमात्मा का सहारा रखना चाहिये और जैसी भी परिस्थिति में रहें मस्त रहना चाहिये। ऐसा होगा तभी जीवन में शान्ति का अनुभव कर सकोगे।



धन चाहे थोड़ा हो—पर यदि आस्तिक रहोगे तो सुखी रहोगे

सुख-शान्ति रुपये के बल पर नहीं होती। अरबों-खरबों की माया रहते हुए भी लोग विफल देखे जाते हैं। सुख-शान्ति का आधार परमात्मा है। उसी के सहारे सुख-शान्ति का अनुभव हो सकता है। क्योंकि परमात्मा के स्मरण से अन्तःकरण की कमजोरी हटती है, उसमें दृढ़ता आती है और विश्वम्भर का सहारा लेकर भी मनुष्य निश्चिन्त रह सकता है। इसलिये धन चाहे थोड़ा ही हो पर यदि आस्तिक भाव रहेगा तो सुखी रहोगे। परमात्मा आस्तिकता चाहते हैं। आस्तिकता के सहारे ही परमात्मा की कृपा प्राप्त की जा सकती है। आस्तिक रहोगे तो बार-बार परमात्मा

लक्ष्मी समाविशतु, गच्छतु वा यथेष्टम् ।

लक्ष्मी की हजार गरज हो तो आये नहीं तो चली जाये, हमें उसके लिये दीन नहीं होना है। लक्ष्मीपति भगवान हमारे बने रहें और हमें कुछ नहीं चाहिये—यह वृत्ति ब्राह्मणों की होनी चाहिये। विचार से धैर्यपूर्वक अपने कर्तव्य के अनुकूल कार्य किया जाय तो लोक में भी सिर ऊँचा रहेगा और परलोक भी उत्तम बनेगा।



बहुत सम्हलकर संसार में व्यवहार करो

यहाँ प्रेम बढ़ जायेगा तो अनेक जन्मों तक रोना पड़ेगा।

संसार के पदार्थों का वियोग होता है। वियोगान्त वस्तु प्रेमास्पद (प्रेम करने योग्य) नहीं। जिसका वियोग निश्चित है उससे प्रेम करने की आवश्यकता नहीं, प्रेम करोगे तो रोना पड़ेगा और एक ही जन्म नहीं रोना पड़ता कई जन्म तक रोना पड़ता है।



कोई गलती हो जाय तो उसे स्वीकार कर लो

दुराग्रह करके गलती का समर्थन करना उचित नहीं।

संसार में जितने प्राणी हैं सभी सुख चाहते हैं। सभी चाहते हैं कि किसी न किसी प्रकार से सुख मिले परन्तु यह बात स्पष्ट है कि किसी भी वस्तु की प्राप्ति तभी होगी जब उसको प्राप्ति के लिये उपयुक्त उपाय किये जायेंगे। सांसारिक सुखों की प्राप्ति का कोई एक मार्ग नहीं है क्योंकि लौकिक सुख की प्राप्ति तभी होती है जब इच्छित पदार्थ की प्राप्ति होती है। अपनी अभीष्ट वस्तु प्राप्त हो जाय तो कुछ सुख का अनुभव होता है इसलिये अनेक प्रकार की वस्तुओं की प्राप्ति से अनेक रूप से लौकिक सुखों का अनुभव होता है। भिन्न-भिन्न लौकिक पदार्थों की प्राप्ति का मार्ग भिन्न-भिन्न है, किन्तु यह बात अवश्य है कि यदि मनुष्य की बुद्धि धार्मिक

‘मल’ की निवृत्ति होने से विषय भोग लालसा स्वाभाविक रूप में कम हो जाती है।



दूसरों से जैसा व्यवहार चाहते हो वैसा ही व्यवहार दूसरों के साथ करो

जो अपने समान ही समस्त प्राणियों को देखता है उसी का देखना-देखना कहा जा सकता है। वही वास्तव में नेत्रवान है।

जब कोई तुम्हें गाली देता है या कटु वचन कहता है, तो तुमको कष्ट होता है इसी प्रकार जिसको तुम कटुवचन कहोगे उसको भी कष्ट होगा। ऐसा सोचकर कभी किसी को ऐसी बात मत कहो जिसको दूसरों के द्वारा तुम नहीं सुनना चाहते।

जैसा व्यवहार दूसरों के द्वारा तुम चाहते हो वैसा ही व्यवहार दूसरों के साथ करो।



यदि शान्ति चाहते हो तो सहनशील बनो

सत्संग के द्वारा सहनशीलता बढ़ेगी दुख तो आता ही रहता है पर सहनशील को कष्ट कम होता है।

मन में सिद्धान्त बना लेना चाहिये कि चीज जैसी है वैसी बनी रहे। बस न उसकी प्राप्ति में हर्ष हो और न वियोग में दुःख। प्राप्ति में हर्ष मानओगे तो वियोग में दुःख अवश्य होगा। वस्तु का आना जाना अपने ही प्रारब्ध के अनुसार होता है। जब अपनी ही चीज आना है, तो हर्ष किस बात का। महिना भर नौकरी करने के बाद वेतन मिले तो इसमें हर्ष की क्या बात है ? अपना रुपया बैंक से निकालो तो प्रसन्नता काहे की ? परन्तु सत्संग होने से ही ऐसे विचार हो सकते हैं। सत्संग से

धैर्य बढ़ता है और धैर्य होने से विपत्ति सहन करने का बल आता है। इसलिये **स्वयं सत्संग करो और अपने लड़कों को सत्संगी बनाओ**। बहुत धन कमाकर दे दोगे और यदि उनके विचार ठीक नहीं हुए तो परेशान ही रहेंगे। इसलिये लड़कों की बुद्धि बनाने का अधिक प्रयत्न करना चाहिये धन की चिन्ता अधिक न होनी चाहिये। एक बार हम अयोध्या में सरयू के तट पर बैठे थे। घाट पर कोई बैरागी साधू स्नान कर रहे थे। उसी समय कहीं की रानी स्नान के लिये आई। उसके मैनेजर ने कहा कि महात्माजी थोड़ी जगह दे दें तो रानी साहिबा भी स्नान कर लें। उनके साथ वालों ने कहा कि ये बड़े 'टकसाली' महात्मा हैं, बड़े प्रभावशाली हैं। ये जब स्नान कर लेंगे तब घाट खाली होगा। मैनेजर ने पूछा कैसे टकसाली हैं तो उसने कहा कि इनने दो लाख रुपया की कोठी अभी बनवाई है। मैनेजर ने कहा कि हमारे राजा वेश्या रखे हैं उसके लिये उन्होंने चार लाख की जूती बनवाई है। अभी तो इनने एक जूती की कीमत ही कमाई है—हटाओ इनको घाट से अभी अलग करो। हमारे राजा इनसे अधिक टकसाली हैं—ऐसा कहकर उसने अपने सिपाहियों से हटवा दिया। तो कहने का तात्पर्य यह है कि धन संग्रह से साधू कभी प्रभावशाली नहीं माना जा सकता। दो लाख त्यागने का तो महत्व हो सकता है पर दो लाख संग्रह का क्या महत्व है ?



धनहीन मँगनी के धन से कितने दिन धनी रहेगा

धर्महीन शिक्षा ने आत्म गौरव नष्ट कर दिया है।

ब्राह्मण का धन है तप, क्षत्रिय का धन है बाहुबल, वैश्य का धन है द्रव्य और शूद्र का धन है कला कौशल एवं सेवा वृत्ति में निपुणता। यदि ब्राह्मण धन से हीन है तो वह अरब खरबपति भी हो जाय तो भी धनी नहीं कहा जा सकता है और इसी

(210)

प्रकार कोई वैश्य यदि कंगाल है तो वह भी धनी नहीं कहा जा सकता। अपने धन से जो धनी है वही धनवान है और दूसरे के धन से, कोई धनवान बनना चाहे तो वह रईसी कितने दिन चलेगी ?

आजकल धनहीन शिक्षा होने के कारण प्रायः कर्तव्याकर्तव्य का बोध ही नहीं रह गया है और इसलिये सारी व्यवस्था बिगड़ रही है। लोगों का दृष्टिकोण संकीर्ण हो गया है। ब्राह्मण तप का महत्व भूल गये हैं, तप के कारण वे कोपीनवन्त रहते हुए भी महाप्रतापी चक्रवर्ती नरेन्द्रों को भी बनाने बिगाड़ने में समर्थ रहते थे। शक्ति संचय के साधन तप की ओर से उपेक्षा होने का ही फल है कि आज गली-गली में सेठों के लड़के खिलाते ठोकें खाते फिर रहे हैं।

ब्राह्मण और साधु ही समाज के मुख माने जाते हैं। सारा अंग स्वर्ण का हो जाय और मुँह पर एक धब्बा (कुष्ठ का) रह जाय तो कोई उसे सुन्दर नहीं कहेगा। मुख पहले स्वच्छ रखना चाहिये क्योंकि सामने पहले वही आता है। इसलिये ब्राह्मणों और साधुओं को अपने धन से धनी होने का प्रयत्न करना चाहिये। तप करना चाहिये और दैवी शक्ति का सम्पादन करना चाहिये। कुछ हो न हो पर कम से कम विश्वम्भर पर तो विश्वास करो या अपने भाग्य पर ही भरोसा रखो। कम से कम पेट के लिये तो दरवाजे-दरवाजे धक्का खाते मत फिरो। इतनी हीनता उठाने से तो मर जाना ही अच्छा है। स्मरण रखो कि तुम व्यास, वशिष्ठ, अत्रि, अंगिरा आदि समर्थ त्रिकालज्ञ महर्षियों की सन्तान हो, अभी तक उन्हीं के नाम से तुम्हारे गोत्र चले आ रहे हैं—तो कम से कम उनकी इज्जत बचाओ। राजकुमार होकर दरवाजे-दरवाजे धक्का खायें यह तो शोभा नहीं देता। ब्राह्मण होकर, साधु होकर, भगवान के कहलाकर, टुकड़ों के लिये धक्का खाना बड़ी भद्दी बात है। ब्राह्मणों, साधुओं का 'तृणवन्यन्ते जगत' होना चाहिये।

(211)

विषयों की ओर मन लगाओगे तो अशान्ति और असंतोष का अनुभव होगा और हर प्रकार की अवनति होगी।

शंकर, विष्णु (राम-कृष्ण), सूर्य, गणेश और देवी इन पंच देवताओं में जो सबसे अधिक प्रिय हो उनके मन्त्र का जप नित्य करना चाहिये।

अपने इष्ट का मन्त्र और उनके ध्यान का प्रकार किसी अनुभवी सद्गुरु से समझकर, नित्य कुछ न कुछ समय इष्ट के मन्त्र जप और ध्यान में अवश्य लगाओ।

जपात् सिद्धिजपात् सिद्धि-जपात् सिद्धि न संशयः।

जप करने से सिद्धि होती है इसमें संशय नहीं है।

भगवन जगत में सर्वत्र हैं यह दृढ़ विश्वास हो जाना ही ज्ञान है और उनके स्वरूप को जानकर उनकी सेवा करना ही भक्ति है।

किसी देवता की उपासना करो तो उससे कुछ माँगो मत। माँगने वाले को कोई अपनाता नहीं। बस इतना ही करो कि उसके हो जाओ और उसको अपना बना लो।

भवसागर से पर होने के लिये ही मनुष्य शरीर रूप नौका मिली है। इसे इस ढंग से चलाओ कि पार ही हो जाओ।



कर्म से ही सुख-शान्ति सम्भव है

जो सुख का साधन हो और निरय का उत्पादक न हो अर्थात् जिसके द्वारा सुख की प्राप्ति हो और अधोगति न हो वही धर्म है। धर्म करने से पुण्य होता है और अधर्म करने से पाप होता है। पुण्य का फल सुख और पाप का फल दुःख होता है।

किस कर्म से पुण्य और किस कर्म से पाप होता है इसका निर्णय शास्त्र करता है। शास्त्र त्रिकालज्ञ महर्षियों के वेदानुसारी अनुभव हैं। शास्त्राज्ञा-कर्म करने से ही

(216)

है और लौकिक सुख के साधनों को धर्मानुसार संग्रह किया गया है तो लौकिक सुख परमार्थ में बाधक नहीं होंगे।

कोई भी कार्य किया जाय उसके संबंध में विहिताविहित का विचार शास्त्र का दृष्टि से अवश्य कर लेना चाहिये और किसी भी कार्य के विधान के संबंध में भी शास्त्र की ही प्रधानता माननी चाहिये और इस बात के लिये सतर्क रहना चाहिये कि अपने से कोई ऐसा कार्य न बन जाय जो शास्त्र मर्यादा के प्रतिकूल हो। बहुत सम्हालकर व्यवहार करना चाहिये और फिर भी यदि कभी कोई गलती हो जाय तो उसे स्वीकार कर लेना ही अच्छा होता है। गलतियों को छिपाने की कोशिस न करनी चाहिये और न उसका अनुचित मंडन ही करना चाहिये। जहाँ तक हो सके अपने जीवन को “कार्ड” के समान रखना चाहिये—जो चाहे देख ले। ऐसे रहोगे तो निश्चिन्त रहोगे। यदि अपने जीवन को लिफाफा बनाया तो जानते तो हो कि लिफाफे में पोल ही पोल रहती है। (हँसी) जिन लोगों ने अपना जीवन लिफाफा बनाकर रखा है उनको प्रायः अशान्ति ही रहती है। जिसका जीवन धार्मिक है जो शास्त्रीय सदाचार का पालन करते हैं और जो अपनी गलती को दुराग्रह के द्वारा उचित सिद्ध करने का प्रयत्न नहीं करते उन्हें जीवन में सुख-शान्ति का अनुभव होता है।



बिना सत्संग किये मोक्ष नहीं प्राप्त कर सकोगे

संसार-सागर से पार करने की चेष्टा करना है तो सबसे प्रथम साधना है सत्संग। कहीं भी जाना हो तो मार्ग की आवश्यकता पड़ती है। जिस स्थान में जाना हो उस स्थान के मार्ग पर जब तक नहीं चलोगे तब तक वहाँ पहुँचना कठिन है। मोक्ष का मार्ग है सत्संग। जब तक सत्संग नहीं करोगे तब तक मोक्ष प्राप्ति संभव

(213)

नहीं। सत्संग वही है जहाँ सत वस्तु का विचार हो। सत्स्वरूप परमात्मा का जहाँ प्रतिपादन हो, जहाँ भगवान के गुणों का निरूपण हो, जहाँ भगवान की लीलाओं का गुणगान हो और जहाँ धर्म और कर्तव्याकर्तव्य का विचार हो वही सत्संग है। समझ बूझकर सत्संग करो, जो बातें सत्संग में सुनो उन पर विचार करो और जो कुछ वेद-शास्त्र के अनुसार तुम्हारे लिये विहित हो उसे व्यवहार में लगाओ। निन्दा-स्तुति से बचने का प्रयत्न करो और जितना सत्संग करो उससे अधिक कुसंग से बचने की चेष्टा रखो, क्योंकि सत्संग करो उससे अधिक कुसंग से बचने की चेष्टा रखो, क्योंकि सत्संग से जितना लाभ होता है उससे अधिक हानि कुसंग से होती है। यदि व्यवहार में कहीं कुसंगियों से काम पड़ ही जाय तो उनसे आवश्यकता-भर ही संबंध रखो। ऐसा करो जैसे लोग आवश्यकता पड़ने पर पैखाने जाते जरूर हैं पर जल्दी से जल्दी वहाँ से हटने का प्रयत्न करते हैं। इसी प्रकार आवश्यकता भर उनसे व्यवहार करो और जल्दी से जल्दी उनके पास से हटने की कोशिश करो। व्यवहार में सफल रहो कि कहीं कुमार्गियों का सम्पर्क न हो जाय।

जो हमेशा सत्संग रूप किले में रहते हैं उनके जीवन की पवित्रता का स्तर बढ़ता ही जाता है और पवित्रता बढ़ने के साथ-साथ उनकी शान्ति भी बढ़ती है। अच्छे साधु महात्माओं और विद्वानों का सत्संग हो तो ठीक ही है नहीं तो अपने आपस में ही दो चार लोग बैठकर गीता, रामायण, भागवत आदि ग्रंथों के सहारे कुछ भगवच्चर्चा करके सत्संग करते रहना चाहिये। प्रत्येक कोटि के साधक के लिये सत्संग आवश्यक है किन्तु सत्संग में यह अवश्य विचार कर लेना चाहिए कि जिन लोगों से सत्संग करना है वे वेद-शास्त्र को मानने वाले हैं या नहीं, क्योंकि जो वेद-शास्त्र की मर्यादाओं को नहीं मानते उनके सिद्धान्तों को सुनने समझने से समय तो व्यर्थ जाता ही है और अपने भी गिरने की सम्भावना हो सकती है और साम्प्रदायिक

संकीर्ण बातों का भी अपने सत्संग में समावेश नहीं होने देना चाहिए। इस प्रकार विचारपूर्वक सत्संग करोगे तो लाभ होगा।



व्यवहार और परमार्थ दोनों को उज्ज्वल बनाओ

मन को संसार में लगाओ परन्तु इतना ही लगाओ कि जिससे परमार्थ न बिगड़े। मन को संसार में लगाया और कहीं अधिक लगा दिया तो फिर रोजगार घाटे का हो जायेगा।

जैसा लिफफा हो वैसा ही गोंद लगाना चाहिए। किसी छोटे लिफफे में ज्यादा गोंद लगा दी जाय तो लिफफा भी गन्दा हो जायेगा और गोंद तो व्यर्थ जायेगा ही।

मन तो गोंद के समान है जहाँ लगाओ चिपक जाता है। व्यवहार में मन को विचारपूर्वक ही लगाना चाहिये। किस स्थान में मन को कितना लगाया जाय यह अवश्य ही विचार कर लेना चाहिए। मूल बात यही है कि व्यवहार में मन को कम लगाओ और परमात्मा के चिन्तन में अधिक।

हमारा यह तात्पर्य नहीं कि आप लोग सब विरक्त बनकर व्यवहार करो परन्तु उसी प्रकार के भजन में लग जाओ। व्यवहार करो परन्तु उसी प्रकार जिससे व्यवहार भद्दा न हो और परमार्थ भी न बिगड़े।

व्यवहार में यह ध्यान रहे कि जहाँ तक हो सके शास्त्रानुकूल ही व्यवहार किया जाय और मन का बहुत थोड़ा अंश उसमें लगाया जाय। मन से भीतर ही भीतर परमात्मा का चिन्तन करते चलोगे तो व्यवहार सुन्दर रहेगा और परमार्थ भी उज्ज्वल बनेगा।

परमात्मा में मन लगाओगे तो शान्ति और सन्तोष का अनुभव होगा एवं हर प्रकार की उन्नति होगी।

काम क्रोध शत्रु वर्ग के कारण ही संसार दुःखी है

(वास्तव में परोपकार तो निजोपकार है)

इसी भाँति सूर्य को भगवान का नेत्र, तेज ज्योति मानकर तथा देवी को भगवान की शक्ति मानकर पूजन करो। इन सबका स्वरूप भी भगवान के समान व्यापक है ये भी सर्वत्र हैं। शक्ति तो सर्वत्र है ही पर पूज्य प्रधान पीठ ही है। भगवान को दूर नहीं करना चाहिये। पंचदेवता ही भगवान के पंचांग हैं।

सत्य को सभी अच्छा मानते हैं। व्यभिचार कोई मत नहीं सिखाता। अच्छी बातें सभी मतों में मानी जाती हैं सिद्धान्तों में कोई भेद नहीं है।

तीनों गुण प्रत्येक शरीर में प्रतिदिन आते जाते रहते हैं। जिस समय सत्वगुण का उदय होता है उस समय जो पत्र लिखोगे सत्वगुणपूर्ण होगा। जिस समय जिस गुण का उदय होगा तुम्हारे कार्य में उसी गुण की प्रधानता होगी। मत प्रवर्तकों ने भी रजोगुण उदय होने पर अपना मंडन तथा दूसरों का खण्डन किया है। किसी गुण का सर्वथा लोप तो होता नहीं पर जिस गुण की प्रधानता जिस समय होती है उस समय उसी गुण का उदय माना जाता है अन्य गुण गौण रहते हैं पर अस्तित्व तो उनका भी रहता है।

सब जगत में भ्रातृभाव उत्पन्न करो दुराग्रह का अंश त्याग देना चाहिये।

पंजाब में लोगों की धारणा थी कि नानक ने वेद को नहीं माना। पर यदि नानक भक्त थे और उनको भक्त माना जाता है तो वे वेद विरुद्ध कदापि नहीं जा सकते। नानक का एक वाक्य है कि रजाई का हुक्म मानो। जो तुम्हारे साथ लिखा गया है। तुम का अर्थ आदि सृष्टि से है। वेद ही अनादि हैं।

जब से सृष्टि है तब से वेद हैं। तात्पर्य यह कि वेद की आज्ञा मानो। नानक ने तो कूट भाषा में वेद का मानना ही लिखा है परन्तु अनुयायियों ने, दुराग्रह से,

(220)

लोक-परलोक में सुख शान्ति की प्राप्ति संभव है। भगवान कृष्ण ने गीता में स्पष्ट कहा है—

**यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥**

(गीता 16.23)

अर्थात् जो शास्त्र विधान का उल्लंघन करके अपनी इच्छा के अनुसार वर्तता है उसको न सुख होता है न शान्ति मिलती है न परम गति होती है। यदि कोई परलोक और परमगति को न भी माने तो भी लोक में सुख-शान्ति के अनुभव के लिये शास्त्राज्ञा आवश्यक है। शास्त्रों में कर्म समुदायक को पाँच भागों में बाँटा गया है, नित्य कर्म, नैमित्तिक कर्म, प्रायश्चित्त कर्म, काम्य कर्म और निषिद्धकर्म। शास्त्रानुसार कर्म करना कठिन नहीं है। बिना जाने हुए ही लोग कठिन मन लेते हैं। **ऐसा करो कि अन्त न बिगड़े।** शास्त्र दृष्टि से अपने अधिकारानुसार कर्म करो और भगवान का स्मरण करते चलो। भवसागर से पार होने के लिये मनुष्य शरीर रूपी सुन्दर नौका मिल गई है ऐसा न करो कि वासना के भंवर में पड़कर नौका डूब जाय। अशुभ वासनाओं को शुभ वासनाओं से दबाओ और शुभ वासनाओं से किये हुए विहित कर्मों के फल को भगवदर्पण कर दो तभी आवागमन के चक्कर से छूट सकोगे। स्मरण रखो कि आदि की बिगड़ी तो बन जाती है परन्तु अन्त की नहीं बनती इसलिये अभी से ऐस प्रयत्न करना चाहिये कि अन्त न बिगड़ जाये। सिद्धान्त है कि—

**यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैतिकौन्तेय सदातद्भवाभावितः॥**

(गीता 8.6)

(217)

अन्त में प्राणी जिस भावना से शरीर त्याग करत है उसी के अनुकूल उसका अगला जन्म होता है। अन्त में उत्तम भावना से शरीर त्याग हो और प्राणी की सद्गति हो इसलिये भगवान ने कहा है—

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युद्ध च ।

यहाँ युद्ध का अर्थ है स्वधर्मानुष्ठान करना। अपने अधिकारनुसार कार्य करो और सदा परमात्मा का स्मरण रखो। शरीर से विहित कार्य करो और मन से परमात्मा का चिन्तन करो।

ऐसा करने से लोक-परलोक दोनों उज्ज्वल बनेगा।



वास्तव में परोपकार तो निजोपकार है

आज भारत की वह दशा है जो गजेन्द्र, द्रौपदी की थी। जनत दुःखी है। अपने दुःख का भी वर्णन नहीं कर सकती। पूर्व संस्कार तो हैं ही। वेद-शास्त्र के विरुद्ध आचरण का फल दुःख सामने है। धर्माचरण से ही सुख होगा। सामान्य धर्म में सबका अधिकार है।

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।

सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥

(गीता 6.32)

वही परम योगी है जो सबको अपने आत्मा के समान सुख-दुःख में देखता है। ताड़ना पर दुःख होता है। इसे अनुभव करो। जिससे हमें सुख-दुःख होता है। उससे दूसरों को भी सुख-दुःख होता है।

केवल एक श्लोक को ही आधार मान लेने से ही भगवान के मतानुसार वह परमयोगी होता है। दूसरों के दुःखों को दूर करने में अपनी आत्मा को, भी सन्तोष मिलता है।

(218)

‘परोपकाराय सतां विभूतयः’

पर क्या है ?

अन्य प्राणी को पर मानना अन्याय है। किसी को अपने से दूर देखना उसका अपमान है। वास्तव में जिसे परोपकार कहा जाता है वह तो निजोपकार है।

डाक विभाग का काम ही पत्र-वितरण करना है। पढ़ाना विद्वान का कर्तव्य है। उपकार नहीं है। चिकित्सा करना वैद्य का कर्तव्य है। जो जिसका धर्म है जो जिसका कर्तव्य है, उसे करना किसी पर उपकार नहीं है। पर मानना ही राग-द्वेष का कारण है। जब संसार ही अपना है तब पर कौन है। हमारी ही आत्मा अनेक रूप से भ्रमण कर रही है। जीव भगवान के हस्त पाद हैं। कोई कोई लोग राम, कृष्ण, शिव, को भिन्न मानते हैं। ये मत मतान्तरों के चक्कर हैं। किले में रहना नहीं चाहते, एक झोपड़ी पसंद करते हैं।

ज्ञानं गणेशं

भगवान की ज्ञान शक्ति ही गणेश का स्वरूप है। सूर्य ही भगवान के नेत्र हैं। सूर्य के उदय होने पर ही हमारे भी देख पाते हैं। शिव भगवान कहते हैं सूर्य मेरी आत्मा है, देवी मेरी शक्ति है। तब सूर्य को न मानना और भगवान को मानना भगवान को नेत्रहीन बनाना है। इसी प्रकार गणेश को न मानना भगवान को ज्ञानहीन बनाना है तथा शिव को न मानना भगवान को आत्मारहित तथा देवी को न मानना भगवान को शक्तिहीन मानना है। शरीर में तो शक्ति ही प्रधान है। भगवान के एक-एक अंग की नहीं सब अंग-प्रत्यंगों सहित सब शरीर की आराधना उपासना होनी चाहिये।

शंकर की उपासना का प्रसंग आने पर भगवान की आत्मा मानकर पूजन करो।



(219)

पतिब्रह्मा, पतिर्विष्णु ।

जब अनुसरण कराना है तब पहले परिचय तो कराओ । नकल कैसे हो जब असल का ही ज्ञान नहीं है । मनुष्य बनाने की लिये संसार सागर से पार जाने के लिये पिता और माता को बनाना चाहिये ।

ज्यों ही कोई दुर्गुण दिखाई दे तो तत्काल रोक दो । शाखतराशी से ही वृक्ष का मूल्य बढ़ता है । बिना शिक्षा, दीक्षा शासन के संतान बिगड़ जायेगी । पाँच वर्ष तक लालन है इसके ऊपर शासन करो । मनोदंड, वाक्दंड-कायदंड से काम लो । नेत्रों के बदलकर देखने को ही मनोदंड कहते हैं । वाणी द्वारा शासन को वाक्दंड कहते हैं । कायदण्ड तो पशुओं के लिये है । यदि माता-पिता लोग चाहें तो सन्तान बड़ी योग्य बना सकती हैं । गर्भावस्था में ही पालन तथा निर्माण प्रारंभ हो जाता है । उस समय सात्विक आहार-विहार रखना चाहिये । उपन्यास न पढ़ें । धार्मिक ग्रंथ पढ़ें तो ध्रुव प्रह्लाद उत्पन्न होंगे । यदि सन्तान को सात्विक बनाना है तो बहू भी घर में आने पर शासन में रहेगी । पुत्र योग्य होने पर उसे शासन में रखेगा । पुत्र नालायक होने से क्या उद्धार करेगा ? पुत्र के लक्षण उसमें होने चाहिये । माता-पिता गुरु को देवता मानने वाला पुत्र ही पुत्र है अन्यथा मूत्र मात्र है । आचारवान को ही ज्ञान होता है धनवान होने से नहीं ।

चलने को तैयार रहो । रहना तो है ही नहीं । ब्रह्म और माया दोनों यहीं हैं । अपनी-अपनी रुचि से लोग देखते हैं । कर्म जहाँ चाहेंगे गिरायेंगे । जहाँ नहीं रहना वहाँ की तो सबको चिन्ता है । जहाँ अवश्य जाना है वहाँ की चिन्ता नहीं है ।

हम तो चौकीदार हैं । जगत्गुरुत्व तो जगत की चौकीदारी है । स्वयं जागो जगत को जगाओ । भगवान ने भी यहाँ आकर कोचवानी की है । महात्मा का वेशभूषा ऐश के लिये नहीं है जो कहा गया है चौकीदार के रूप में ही कहा गया है ।

इच्छानुसार वाक्य रच लिये हैं । देश काल के अनुसार नियमों में शिथिलता तो की जाती है, वेद की कठिनाइयों को सरल करते करते भक्ति मार्ग बना दिया कि और कुछ करते नहीं बनता तो नाम ही जपो । कहीं से भी मंत्र पाया हो उसी को जपो कल्याण होगा । मनुष्य योनि पाकर परमार्थ भजो । संसार में व्यवहार करते-करते संसार को गौण रखो परमार्थ को मुख्य मानो ।

ददतु ददतु गाली

गालिवंत भवंतः ।

गाली सुनकर सोचो कि गाली में जैसा संकेत किया गया है क्या वैसा संबंध तुम्हारा है । मूर्ख, विषयी, पामर कहे जाने पर विचारो कि क्या वास्तव में तुम वैसे हो । यदि हो तो वैसा होना छोड़ दो यदि नहीं हो तो कहने दो । कहने मात्र से तो किसी के वैसा न हो जावोगे, द्रोह न मानो । भ्रम से भी तो कहने वाला कह सकता है । जब चोर नहीं हो तब चोर कहे जाने पर बुरा क्यों मानो ? कहने वाले को तो भ्रम हुआ पर स्वयं तुम भ्रम में क्यों पड़ते हो ? कहने वाला भी तो अपना ही घर है यानी कहने वाले के शरीर में भी तो आत्मा-निवास कर रहा है और अपना शरीर तो अपना घर है ही ।

सहनशील बनो । तीन बार तक तो सहना ही चाहिये । तीन कसूर माफ की धारणा तो लोगों की कही सुनी ही जाती है । काम, क्रोध, शत्रुवर्ग के कारण ही तो संसार दुःखी है । तीन बार तक अपमान सहन कर लो यही मानवता है । चौथी बार करने पर उसे पागल उन्मत्त मान लो । तब शान्ति हो सकती है । शत्रु मित्र का भाव ही अशान्ति का कारण है । आप स्वयं ही तो शत्रु मित्र बना लेते हैं । तुच्छ बात को मित्र न बनाओ । मानवता के नाते व्यवहार रखो ।

शत्रु मित्र कोई होता नहीं। पूर्व संस्कार ही सामने आते हैं। पूर्व जन्म का पाप ही दुःख देने योग्य बनकर सामने आता है। कर्म तो जड़ है। किसी चैतन्य के सहारे ही आता है। आपके पाप का निमित्त बनने पर आपको उससे दुःख होता है। दुःख सामने आने पर दुष्कृत का फल मानो। सुख-दुःख, पुण्य-पाप अपने ही किये हुए कर्मों का फल हैं।

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।

शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः॥

तुल्यनिन्दास्तुतियौनी संतुष्टो येन केनचित्।

अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः।

(गीता अ. 12 श्लोक 1819)

नवयुवक स्वास्थ्य का ध्यान नहीं रखते। स्वास्थ्य ठीक रहने पर बुद्धि भी ठीक रहेगी। गुरु आश्रम तो अब हैं नहीं। माता-पिता को ही देखना चाहिये। भारतीयता के विरुद्ध, धर्म के विरुद्ध काम करने पर रोक दो। अंग्रेजी पढ़ो पर अंग्रेज न बनो। भारत में जन्म होने के नाते भारतीय धर्म ही हमारा धर्म है। अन्य देशीय धर्म हमारे लिये अधर्म हैं। हमारा ही जौ जब Barley बारली बन जाता है तब हम उसे मूल्यवान मान लेते हैं। जौ में ही प्रेम करो। Barley बारली से नहीं। हमारे ही उच्छिष्ट भोगी ही हमारे पथ प्रदर्शक बनते हैं। इनके अनुकरण से धन, भय, मन सब ही क्षय होता है।

भारतवर्ष स्वतंत्र हुआ इसी से सभी भारतवासी स्वतंत्र हो गये। प्रत्येक देशवासी को पृथक्-पृथक् स्वतंत्रता का संदेश आवश्यक नहीं।

भारत स्वतंत्र हुआ है तो भारतीय यथार्थ में रहो। मंचों पर से चिल्लाने पर

(222)

कि मैं भरतीय हूँ काम न चलेगा। जोश व होश दोनों ही होना चाहिये। बच्चा भी यदि कोई बात कहता है तो उसकी भी सुनो। सुनकर उसका समाधान करो। उसे समझाओ। डंडा लेकर उसे भगा मत दो। स्वतंत्रता तो सब ही की है। यदि कठोरता करते हो तो थोड़े लोग ही स्वतंत्र हुए जिनका शासन है। पुत्र कुपुत्र हो सकता है। कुपिता तो न बनो। संतान यदि अपमान करती है तो सहन करो। उसके मस्तिष्क को सम्भालो। उसे समझाओ अपनाओ। उपेक्षा न कर करो। पथ भ्रष्ट हुये को पथारूढ़ बनाओ। यह वृद्धों को चाहिये।

भगवान में निष्ठा करो, दुर्गुणों से दूर रहो

काम क्रोध शत्रु वर्ग के कारण ही संसार दुःखी है।

स्त्रियों के प्रति

माताओं का संसार से अधिक सम्बन्ध रहता है। बालकों को पुत्र तथा कन्याओं को माता बनाओ। पुत्र को सच्चा पिता बनाओ। धार्मिक शिक्षा भी अवश्य होनी चाहिये। कन्याओं को सीन-पिरोने के साथ ही धर्मग्रन्थों का भी अध्ययन कराओ। उनमें धार्मिकता आनी चाहिये। उनको नौकरानी बनाने की आवश्यकता नहीं। भावी जीवन की तैयारी कराओ। अधिक पढ़ाना ही अभीष्ट है तो चिकित्सा शास्त्र पढ़ाओ कि नित्य डॉक्टरों को फीस न देनी पड़े। बच्चों का रोग निवारण तो कर लिया करें। उनको आयुर्वेद पढ़ाओ। रोग तो नित्य घर घर में होते ही रहते हैं धन भी व्यय न होगा। कौन जाने समय पड़ने पर धन होगा ही। स्वयं माता बनें। भूमि का स्वरूप माता का है। खनन पर क्रोध नहीं। पूजन पर प्रसन्नता नहीं। बालकों की सद्बुद्धि के लिये प्रयत्न करना चाहिये।

(223)

इतना बढ़ गया था कि लोग यज्ञों के ही पीछे पड़ गये थे। अनेकों यज्ञ और अनन्त पशुवध होने लगा था। साधारण शक्ति से उसका रोकना असम्भव हो गया था।

तब भगवान ने बुद्ध अवतार लेकर यज्ञों के प्रवाह को रोकने के लिये यज्ञों का खंडन किया और पशुवध रोकने की, अहिंसा की, पुष्टि की। यज्ञ वेद विहित होने से वेदों का खंडन भी करना पड़ा। जब इस प्रकार से कर्मकाण्ड का लोप होने लगा तब भगवान शंकर ने शंकराचार्य के अवतार में पुनः वैदिक मार्ग का प्रतिपादन किया और अवैदिक सिद्धान्तों से जनता को विरक्त करके उनके दृष्टिकोण को परिवर्तित किया।

भगवान के प्रचार का उत्तर भगवान ही दे सकते हैं। अतः बुद्ध के पश्चात् शंकर का अवतार हुआ। अब तो व्यक्तिगत सिद्धान्तों को ही लोग लिये फिरते हैं उन अभागों के लिये उपदेश ही क्या करें ?



बिना साधन साध्य प्राप्त नहीं होता

जब मनुष्य को वैराग्य होता है तभी पाप से बचता है। वैराग्य किसी निमित्त को पाकर होता है। राजा भर्तृहरि को स्त्री के कारण वैराग्य हुआ। एक ब्राह्मण ने समुद्र तट पर तप करके एक फल पाया। जिसके खाने से खाने वाला सदा नवयौवन सम्पन्न बना रहता था। ब्राह्मण ने सोचा कि हम तो भिक्षुक हैं ही इसे खाकर क्या करेंगे ? राजा बड़ा न्यायी है उसी की भेंट यह फल होने योग्य है। उसके गुण बताते हुए ब्राह्मण ने वह फल राजा को दे दिया। राजा कामासक्त था उसने अपनी प्रिय रानी का जीवन अक्षुण्ण रखने के उद्देश्य से, गुण बताकर, फल रानी को दे दिया।

परमात्मा में पूर्ण विश्वास रखो। भगवान पास ही हैं। भगवान को बाँट नहीं सकते। भगवान में निष्ठा करो। दुर्गुणों से दूर रहो। अभिमान न आने पाये। शत्रुमित्र की भावना दूर करो।



साकार और निराकार में कोई भेद नहीं

भगवत चरणों के चरणामृत का रसास्वादन करो और श्रीमुख से ही वे शब्द सुनने की आतुरता रखो जिनके कान में पड़ने से यह भौतिक शरीर ही पवित्र एवं पुष्ट तथा विशुद्ध हो जाता है। जिसका वर्णन गोस्वामी तुलसीदास जी ने स्वायंभुवमनु और शतरूपा के आख्यान के संबंध में किया है—

मांगु मांगु बरु भै नभ बानी। परम गंभीर कृपामृत सानी ॥

मृतक जिआवनि गिरा सुहाई। श्रवन रंध्र होइ उर जब आई ॥

हृष्ट पुष्ट तन भए सुहाए। मानहुअबहिं भवन ते आए।

श्रवन सुधा सम बचन सुनि लुक प्रफुल्लित गात।

बोलेमनु करि दंडवत प्रेम न हृदयं समात ॥ 1-145 ॥

इससे विचारपूर्वक प्रवृत्ति बनाने से ही मन सुमार्ग की ओर जाता है और उसी से कल्याण होना सम्भव है।

श्राव्य क्या है ? गुरुदेव वाक्य ही श्राव्य है। यहाँ गुरु वाक्यम् नहीं कहा गया अपितु 'गुरुवेदवाक्यम्' श्राव्य कहा गया है। इसका भेद भी जानना आवश्यक है। गुरु तो आजकल अनेक बनते हैं। जिस किसी को कुछ अनुभव प्राप्त हो गय वही गुरु बन गया वही मार्ग अपने शिष्य वर्ग को बता दिया। परन्तु यह सब ऐसे ही हैं जैसे जंगल से होकर पगडंडी। यदि कोई सामर्थ्यवान हुआ तो साहस करके पार हो गया अन्यथा भटक गये तो गये। इसलिये अनभिज्ञ के लिये पगडंडी पर चलना

उचित नहीं, प्रशस्त राजमार्ग पर चलना ही श्रेयस्कर है और वह मार्ग है वेदकल मार्ग—इयं सा मोक्षमाणानामजिहमा राज पद्धति—ऐसे ही उस गुरु का सहारा लेना उचित है जो वेदोक्त प्रशस्त पथ का पथिक बना सके ताकि पगडंडियों पर भटकने वाले का—

गणेशश्च दिनेशश्च, विष्णुशक्तिश्शिवस्तया ॥

उपासना वेदोक्त उपास्यदेव की हो ॥

पंचदेव—गणेश, विष्णु, सूर्य, शिव और शक्ति ही वेदोक्त उपास्यदेव हैं। सुख, शान्ति सिद्धि चाहने वालों को चाहे आस्तिक हो या नास्तिक शास्त्रविधि को लेकर ही चलना चाहिए। भगवान अदृष्ट विग्रह स्वरूप हैं। वे भाव ग्राह्य हैं। उन अदृष्ट विग्रह का नाम ऊँ है।

मंत्रार्थदेवतारूपं चितनं परमेश्वरिः ।

वाच्य वाचक भावेन अभेदो मंत्रदेवयोः देवीभा ॥

वाच्य वाचक का अभेद संबंध होता है। भगवान वाच्य हैं। ऊँ (प्रणव) वाचक है। वाचक के उच्चारण से वाच्य आकृष्ट होता है। सभी मंत्रों का वाच्य अर्थ होता है। जो मंत्र जिस देवता का वाचक है उच्चारण से वही देवता आकृष्ट होता है।

अर्थ के दो प्रकार हैं। सत्य अर्थ और लक्षण अर्थ। सत्य अर्थ से तो दृष्टि विग्रह के दर्शन होते हैं परन्तु लक्षण वृत्ति से अदृष्ट विग्रह से संबंध जोड़ा जाता है।

शास्त्रों ने चैतन्य के सात (7) भेद माने हैं। 1. शुद्ध चैतन्य, 2. ईश्वर चैतन्य, 3. जीव चैतन्य, 4. प्रमाता चैतन्य, 5. प्रमाण चैतन्य, 6. प्रमेय चैतन्य, 7. फल चैतन्य।

शुद्ध चैतन्य माया रहित है, ईश्वर माया सहित है—

शुद्धमीश्वर चैतन्यं जीव चैतन्यमेवच

प्रमाता च प्रमाणं च प्रमेयं च फल तथा ।

इति सप्तविधं प्रोक्तं चैतन्य परमार्थतः ।

(226)

ईश चैतन्य ब्रह्म चैतन्य प्रभात चैतन्य प्रमाणं चैतन्य

प्रमिति चैतन्यं चेति सप्तविधिम् ।

अर्थात् जीव चैतन्य अन्य क्रियाओं द्वारा पहिले अन्य चैतन्यों को जानकर ही शुद्ध चैतन्य को जाना जा सकता है। शुद्ध चैतन्य निराकार है, ईश चैतन्य साकार है। साकार और निराकार में कोई भेद नहीं है। निराकार ज्ञानगम्य और साकार भक्तिमय है। ज्ञान और भक्ति में कोई भेद नहीं है। जब आराध्य का ज्ञान ही नहीं है तब उनकी भक्ति कैसे की जा सकती है? वास्तव में ज्ञानी ही सच्चा भक्त हो सकता है।

आराध्य का ज्ञान ही भक्ति की प्रेरणा करता है। ज्ञानी ही भक्त हो सकता है। परमात्मा व्यापक है। भक्तों के लिये भगवान सदा तैयार रहते हैं। सरल भाव से पुकारने पर तत्काल सुनते हैं। स्थल विग्रह (अदृष्ट विग्रह) में शक्ति सूक्ष्म (अदृष्ट) विग्रह से ही आती है। सूक्ष्म विग्रह की उपासना से ही स्थूल विग्रह फल देते हैं।

सरल सीढ़ी यही है कि—1. ज्ञानाग्नि से कर्म को दग्ध करो अथवा 2. कर्मफल त्यागकर भगवान की आराधना करो। प्रमाद छोड़कर उपासना करो। मत मतान्तरों के झगड़ों में न फँसो। पंच देवों की उपासना ही वैदिक है। वेदशास्त्र विरुद्ध उपासना अमान्य है।

वर्तमान काल में बहुधा लोग कह देते हैं 'रोटी बेटी से धर्म से क्या संबंध है?' पूछने पर वे यह भी नहीं बता सकते कि धर्म का क्या स्वरूप है? जब धर्म का स्वरूप नहीं जानते तब उसका संबंध रोटी से क्या है और बेटी से क्या है? यह कहने का ही क्या अधिकार रह जाता है।

शरीर में वात-पित्त-कफ समान रहने पर ही शरीर स्वस्थ माना जाता है।

इसी प्रकार ज्ञान-कर्म-भक्ति (उपासना) भी जानो। बुद्ध से पहले कर्मकाण्ड

(227)

एक साधु राजा के गुरु थे। मार्ग से जा रहे थे। एक भंगिन मार्ग स्वच्छ कर रही थी। झाड़ू की धूल उड़कर साधु के शरीर पर पड़ गई। साधु क्रोधित होकर उस स्त्री को अपशब्द कहने लगे। स्त्री ने अपशब्द सुनकर साधु के ही 2, 4 झाड़ू लगा दिये। राजा से शिकायत की गई कि साधु का ऐसा अपमान किया गया। राजा की आज्ञा से वह भंगिन बुलाई गई। उससे पूछा गया कि तुमने साधु को झाड़ू लगाकर अपमानित किया है। उसने तत्काल उत्तर दिया कि उसने साधु को झाड़ू बिलकुल नहीं मारी। साक्षी लोगों से पूछा गया तो मारने का समर्थन हुआ। तब उससे फिर पूछा गया कि अब क्या कहती हो। वह बोली कि महाराज मैं तो चांडालिन हूँ। चांडाल मेरा पति है। शास्त्र में क्रोध को चांडाल कहा गया है। जब क्रोध ने साधु पर अधिकार कर लिया तब मैंने चांडाल को झाड़ू मारी कि इन गुरु महाराज साधु को तो छोड़े रह। चमार की भी सेवा करना धर्म है। स्पर्श आदि के लिये प्रायश्चित्त भी है स्नानादि का क्रम बताया गया है।

मद, मत्सर, काम, क्रोध, लोभ, मोह ही शत्रु हैं। यह छः ही मित्र भी बनाते हैं और शत्रु भी। इन पर विजय न पाने से इनमें से प्रत्येक बाहर जाकर शत्रु बनाते हैं।

क्रोध आने पर पहले अपनी बुद्धि ही भ्रष्ट होती है। अग्नि पहले जिस तिनके के संसर्ग में आती है उसे ही जलाती है। एक शत्रु को दबा लेने से अनेक शत्रुओं से बचत होती है।

काम—ब्रह्मचारी रहो। मल-मूत्र के झांड में क्या रक्खा है ? बाल ब्रह्मचारी आजन्म ब्रह्मचारी रहे।

यदि पूर्व संस्कार बस विवाह हो गया है तो शास्त्रानुसार भोग करो। ऋतुकाल में सम्पर्क करो। वीर्य क्षरण होने से नेत्रों की ज्योति नष्ट होती है। बलक्षय होता है। बलहीन होने से इन्द्रियों की शक्ति नष्ट होती है। पत्नीव्रत पुरुषों को तथा पतिव्रत स्त्रियों को धारण करना चाहिये।

(232)

रानी अन्य व्यक्ति पर आसक्त थी। उसने वह फल उस अपने जार को दे दिया। उस व्यक्ति ने अपनी वेश्या को दे दिया, वेश्या ने सोचा कि मैं पापमय जीवन बिताने के लिये अमर यौवन पाकर क्या करूँगी। धर्मशील राजा को यह फल देना चाहिये जिससे न्यायपूर्ण शासन सदा होता रहे। इस भाँति वह फल पुनः राजा के ही पास पहुँच गया। राजा को महान आश्चर्य हुआ। रहस्योद्घाटन के पीछे पड़कर राजा ने सब प्रसंग जान लिया। बस इसी पर उसे वैराग्य हो गया।

याचिंतयामि सततं,
मयि सा विरक्ता।
सा अन्यमिच्छति जनं,
सजनोऽनन्य सक्तः ॥
अस्यदृते च
परितुष्यति काचिदन्या।
धिकतां च तं च मदनं
च इमां च मां च ॥

फल राजा के विराग का कारण हुआ। राजा पूर्व का तपस्वी योगभ्रष्ट था। योगभ्रष्ट भी घाटे में नहीं रहते। साधन कोटि में भी मृत्यु होने पर रोटी कपड़े को दुःखी नहीं होते।

एक नमूने से ही पता चला लिया जाता है। एक रईस शिमला मंसूरी जाया करते थे। अपने को ब्राह्मण कहने वाला एक बाबू साथ रहा करता था। घर में पर्दा नहीं था। रानी से संपर्क हो गया। रईस को जब पता चला तो बाबू को किसी बहाने अन्यत्र भेज दिया। एक हफ्ते में रानी ने पूछा बाबू कब आयेंगे ? पहले तो टालमटल की

(229)

गई कि दस दिन में आवेंगे पन्द्रह दिन में आवेंगे, पर अंत में उस पापिष्ठा रानी ने कह दिया कि यदि एक हफ्ते में बाबू नहीं आये तो मैं स्वयं वहाँ जाऊँगी। अन्त में झख मारकर बाबू को बुलाना ही पड़ा। सब लोग धक्के से भी सचेत नहीं होते। इतना पाप अन्तःकरण में भरा है कि कुछ करते ही नहीं बनता।

प्रथम वैराग्य का निमित्त कोई छूद्र कारण ही होता है। आरंभ से ज्ञानी भक्त तो पूर्व संस्कारी ही होते हैं। वैराग्य के 4 प्रकार है—1. मंद, 2. तीव्र, 3. तीव्रतर, 4. तीव्रतम। मंद वैराग्य का उदय होने पर यदि पूर्व संस्कारों ने साथ न दिया तो थोड़े में ही फिसल जाता है, परन्तु यदि सत्संग प्राप्त हो जाता है, तो क्रमशः तीव्र, तीव्रतम और तीव्रतम हो जाता है। आरम्भ में पीपल अथवा वट वृक्ष का पौधा इतना कोमल तथा निर्बल होता है कि एक अजाछाव भी उसे नष्ट कर दे सकता है परन्तु जब वही पुष्ट हो जाता है तब गज भी उससे बँधे रह जाते हैं।

तीव्र वैराग्य में भी डर रहता है। 'न पश्येत दारमीय क्वचित्' आदेश योगियों के लिये भी है।

वैराग्यवान का साथ करने से वैराग्य पुष्ट होता है। वृत्ति जिनकी ठीक है वह साधु हैं। जिनका आचार शास्त्रोक्त है वे ही साधु हैं। वे देव कोटि में हैं। इसके विपरीत जो है वे ही असाधु हैं, असुर हैं, निश्चर हैं।

असुर निश्चर के लक्षण तुलसीदास जी ने इस प्रकार बतलाये हैं—

बाढ़े खल बहु चोर जुआरा। जे लंपट परधन परद्वारा ॥

मानहिं मातु-पिता नहि देवा। साधुन्ह सन करवावहिं सेवा ॥

(मानस)

गुरु पिता-माता के आशीर्वाद से कल्याण होता है। मनुष्य के कल्याण के लिये वह सदा अपेक्षित है। इसी से इनका पूजन धर्म माना गया है।

(230)

कैकेयी की प्रतिज्ञा थी कि हमसे उत्पन्न सन्तान को जो राजा बनायेगा, उसी से हम ब्याह करेंगी। इसे जानते हुये भी राजा दशरथ ने इस विश्वास और आशा से कि हमारे से उत्पन्न संतान कैसे अधर्म करेगी विवाह कर लिया। अंत में हुआ वैसा ही। भरत को राज्य दिया भी गया परन्तु उन्होंने राज्य नहीं किया। दशरथ का मनोराज्य सत्य था।

माता-पिता गुरु ही आयु, बुद्धि, धन देने वाले हैं। इनको न मानकर निर्गुण ब्रह्म ढूँढ़ने जाते हैं।

अभिवादनिशीलस्य नित्यं

वृद्धोप सेविना।

चत्वारि तस्य वर्धते

आयुर्विद्या यशो बलम्।

व्यास वशिष्ठ ने भी मर्यादा पूर्ण की है उनका दिया हुआ मार्ग उचित हैं।

साधन बिना साध्य प्राप्त नहीं होता। धर्म की आवश्यकता अपने लिये हैं। भजन भगवान के लिये नहीं अपनी शक्ति बढ़ाने को किया जाता है।

मद, मत्सर, काम, क्रोध, लोभ और मोह ही शत्रु हैं

व्यवसाय और वकालत आदि में द्रव्य ही लक्ष्य रहता है। सहयोग अपने हित को होता है।

धर्महीन प्राणी राजनीति नहीं जान सकता। राज सत्ता को मानना धर्म ही तो सिखाता है। राजनीति का धर्म से पूर्ण संबंध है। शास्त्र प्रतिपादित धर्म ही धर्म है। कूपमंडूक का धर्म धर्म नहीं है।

आचार तथा अत्याचार में भी भेद जानना चाहिये। दक्षिण प्रदेश में आचार के नाम पर अत्याचार का बाहुल्य है।

(231)

वेद शास्त्रवादी हैं। वेद ही हमारे संचालक हैं। वैदिक धर्म ही है। वास्तव में धर्म तो सनातन वैदिक धर्म ही है। अन्य तो मत हैं राम-कृष्ण आदि ने तो इसी का रक्षण किया है।



परमात्मा निष्काम पर प्रसन्न होते हैं

इस समय अधिकांश लोग सिद्धियाँ ढूँढ़ते हैं। सिद्धि का समागम चाहते हैं। सिद्धियाँ मिलने के क्या लक्षण हैं ?

योग शास्त्र जन्मोवधमन्त्र तप समाधि।

कोई तो जन्म से सिद्ध होते हैं। पूर्व जन्म की तपस्या रही परन्तु कोई वासना शेष थी अथवा प्रारब्ध रहा तो इस जन्म में प्रारम्भ से ही सिद्ध होते हैं जड़ भरत का उदाहरण सामने है। आज भी कुछ महात्मा जन्म सिद्ध होंगे।

औषधि से भी सिद्ध होते हैं। हम लोग जंगलों में रहे हैं जानते हैं। “कष्टकारि द्वयम्” किसी वैद्य ने भटकटैया (छोटी, बड़ी) के स्थान पर कष्टकारी (जूता) का काढ़ा तैयार किया। औषधियाँ ऐसी हैं कि आप उनके बल से कल्पपर्यन्त जीवित रह सकते हैं। औषधि कल्प करते जाओ। जीव तो अजर-अमर है। जब औषधियों से कल्पपर्यन्त रह सकते हो तब छुद्र व्याधियों का क्या कहना ?

गंगाजी के किनारे शृंगवेरपुर के निकट कौखेश्वर में रीवाँ राज्य के एक बाबा थे उन्हें पादुका सिद्धि थी। गंगाजल पर चलकर दूसरी ओर से घी ले आये। दूसरे को गुटका सिद्धि थी। वे “अबेरी के बाबा” नाम से प्रसिद्ध थे। औषधि के बल से उसे सिद्धि थी। यह सब लोकवासना की पूर्ति कर सकती हैं कल्याण नहीं होता।

मंत्र से भी सिद्धि होती है यदि मंत्र से देवता प्रसन्न हो गया तो, जितनी उसकी शक्ति है उतना कार्य वह कर देगा। सर्वशक्तिमान तो परमात्मा है। रामनाम के बल पर सब कुछ किया जा सकता है पर लौकिक बातों की याचना भगवान से मत करो। तैंतीस कोटि देवता इसीलिये हैं। हल बैल का होता है हस्ती का नहीं।

(236)

‘पत्नीव्रत, पतिव्रत तथा जगमुदमंगलमूल’ स्त्रियों को पतिव्रता बनाने के लिये पुरुषों को स्वयं पत्नीव्रती होना चाहिये। तभी स्त्रियाँ सदाचारिणी बन सकती हैं।

शारदा एक्ट पास हो जाने पर लोग बड़े प्रसन्न होते हैं। केवल प्रतिबंध द्वारा एक अवस्था विशेष के भीतर विवाह न होने देने से ही सदाचार की रक्षा नहीं हो सकती। इन्द्रियों पर विजय पाने की शिक्षा देने वाले गुरुकुल तो अब हैं नहीं। गुरुकुल में निवास करके गुरु के शासन में रहकर इन्द्रिय निग्रह, विशुद्ध वासनाहीन मन बनाने की शिक्षा पाने की तो प्रथा रही नहीं। अब तो कॉलेजों में पढ़ने वाले विद्यार्थी नाना प्रकार के विषयों, इन्द्रिय, लोलुपता एवं कुरुचिपूर्ण कुत्सित वासनाओं में लिप्त हो जीवन नष्ट करते दिखाई देते हैं।

प्रतिबंध लागकर ब्रह्मचारी नहीं बनाये जा सकते। कानूनी प्रतिबंध शरीर तक ही अधिकार रखते हैं। उनके द्वारा मन का नियंत्रण नहीं हो सकता।

शारदा एक्ट से गरीबों की ही दुर्गति बढ़ी है। वयस्क बालिकायें जीवनोपयोगी रोटी-कपड़े के कष्ट निवारणार्थ विवश हो घर के बाहर वयस्क पुरुषों के संसर्ग में आती हैं और उनका पतन होता है। वर्तमान समय में तो रोटी-कपड़े की ही कठिन समस्या है। बालविवाह न हो पर गरीबों का प्रबंध तो होना ही चाहिये। लड़कियों का प्रबंध करो। प्रबंध तो होता नहीं प्रतिबंध लगाने को तैयार हो फलतः आज अधिकाधिक कन्याएँ स्वयंश होती जा रहीं। स्वेच्छा चारिता को प्रोत्साहन मिलता जा रहा है। अनावश्यक बात पर ही रागद्वेष हो रहा है। राजा को धर्म में हस्ताक्षेप न करना चाहिये। भगवान से प्रार्थना करो कि शासकों को सद्बुद्धि प्रदान करें।



संशय युक्त पुरुष परमार्थ से भ्रष्ट हो जाता है

सन्तान को धर्मशिक्षा भी दो केवल मंजूर न बनाओ। धर्मात्मा मंजूर बनाओ। एक साधु मैथिल था कुछ पागल सा, कष्ट होने पर वैष्णव सम्प्रदाय में गया। खूब संस्कृत बोलता रहा पर सम्प्रदाय से भिन्न तिलक छाप देखकर किसी ने उसकी

(233)

ओर ध्यान भी नहीं दिया। कुछ समय टालकर वही साधु वैष्णव सम्प्रदाय के अनुकूल तिलक छाप लगाकर फिर अखाड़े में गया तो खूब सत्कार पाया। पागल सा तो था ही कुछ काल बाद पुनः वैष्णवी संप्रदाय में पहुँचा पर तिलक पेट पर लगाये।

अपने इष्ट के अनुसार त्रपुंड तो मस्तक पर लगाये और वैष्णवी तिलक छाप सब पेट पर लगाये लोगों ने आश्चर्य से घेर लिया पूछा कि यह क्या बात है ? तो बोला हम तो वास्तव में मैथिल हैं। मस्तिष्क के चिन्ह सूचित ही करते हैं परन्तु इन वैष्णवी चिन्हों से उदरपूर्ति हुई थी सो इनको पेट पर लगाये हैं। इनको तो पेट की खातिर ही अपनाये हैं। पाश्चात्य विद्या तो उदर की वस्तु है मस्तिष्क की नहीं। भारतीय संस्कृति का अध्ययन करो। इतिहास पढ़ो। संस्कृत पढ़ो। अंग्रेजी पेट में रखो। मस्तिष्क में संस्कृत रखो। भाषा कोई पढ़ो। धर्म का आश्रय रखो आपदा आने पर धर्म ही सहायक रहेगा।

आप किसी को कष्ट न दो। स्वयं कष्ट सहन कर लो। आततायी वध के अधिकारी होते हैं। जिसे वध करने का है वही वध करे। ताड़िका, मारीच, सुबाहु आदि निशाचरों से दुःखी होकर महर्षि विश्वामित्र राजा दशरथ के यहाँ रक्षा पाने के निमित्त गये। राजा नीतिज्ञ थे। नीति में स्त्री अवध्य मानी गई है। राजनीति विचारते तो ताड़िका का नाश कैसे करते। अतः रामचन्द्रजी को माँगा। वे स्वयं भगवान थे। राक्षसों का नाश करने के लिये ही लीलावपुधारी हो अवतरित हुये थे। चाहते तो विश्वामित्र जी स्वयं राक्षसों का नाश कर सकते थे। परन्तु धर्मानुसार यज्ञ तथा याज्ञियों की रक्षा करने का भार राजा पर है अतः प्रार्थना की। जिसे दंड देना अपने अधिकार की बात नहीं है उसे दंडित किये जाने के लिये राजा से प्रार्थना करो। अब तो धूर्तता के कारण राजा भी परेशान रहते हैं।

(234)

गाली देते आओ, निन्दा करते आओ, प्रश्न करो, कोई विचार लेकर आओ। जो जी में है बाहर निकालो तो। वमन विरेचन से शरीर शुद्ध होता है तभी दवा काम करती है।

एक डॉक्टर थे। एक बार मिलने आये। प्रश्न पर प्रश्न किये गये। उत्तर भी दिये गये। अन्त में बोले—महाराज! किसी और ने भी कभी इतने प्रश्न किये ? उत्तर दिया गया कि कहीं और भी इतने प्रश्न करने पर बैठने पाये। तब बोले महाराज पाँच प्रश्न करने पर ही हटा दिया। जाता रहा हूँ। किसी ने इतने प्रश्न किये जाने का अवसर ही नहीं दिया।

लुहार की निहाई पर तो घन गिरा ही करता है। हमारा पद ही मैदान में युद्ध करने का है। हमारा तो सिद्धान्त ही है—जो कोई प्रश्न करना है करो। प्रश्न करने से ही पात्र बनता है। हम तो प्रसन्न हैं तुम्हारी बात पर। तुरन्त प्रश्न करो समाधान कर दिया जायेगा। फोड़ा बनाये न फिरो। कल्याण के लिये ही कभी कुछ कह देते हैं। फोड़े का तो आपरेशन होना ही चाहिये। संशय दूर करो क्योंकि भगवान ने स्वयं गीता में कहा है—

अज्ञश्चाश्रद्धानश्च संशयात्मा विनश्यति।

नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः॥

(4.40)

भगवान विषय को न जानने वाला तथा श्रद्धारहित और संशययुक्त पुरुष परमार्थ से भ्रष्ट हो जाता है (उनसे भी) संशययुक्त पुरुष के लिये तो न सुख है (और) न यह लोक है न परलोक है अर्थात् यह लोक और परलोक दोनों ही उसके लिये भ्रष्ट हो जाते हैं।

सुवर्ण की परीक्षा तीन प्रकार से की जाती है। सिद्धान्त की प्रतिष्ठा भी तीन ही बातों से है। ताड़न, घर्षण, तप्त करना। तीन प्रकार स्वर्ण की परीक्षा के हैं।

(235)

भूसी लगी रहने पर धान को चावल नहीं कहा जा सकता। आज तक किसी को धान उबालकर खाते नहीं देखा गया। हम तभी तक अंश हैं जब तक यह कर्मरूपी भूसी लगी है।

हनुमान ने यही उत्तर दिया था कि शरीर से आपका दास हूँ, जीव रूप से आपका शिष्य हूँ तथा वस्तु-तत्व तो जो आप हैं वही मैं। भक्ति मार्ग द्वारा भी 'यद्गत्वा न निवर्तन्ते' कहा गया है। भला भूसी एक बार चावल से अलग हुई तो क्या दुबारा फिर उसमें लगाई जा सकती है? यदि किसी प्रकार उसमें चिपका भी दी जाय तो क्या उसमें अंकुर आयेगा ?

बस एक बार ज्ञानाग्नि में कर्म राशि दग्ध की फिर दुबारा कर्म बाधक नहीं हो सकता। प्रारब्ध, संचित, क्रिययाण तीन प्रकार के कर्म हैं। प्रारब्ध कर्म को भोगकर संचित कर्म ज्ञान के द्वारा और क्रिययाण भगवान को अर्पित कर, कर्म बंधन मुक्त हो जाना चाहिये। क्रिययाण कर्म भगवान को इसलिये अर्पित करना चाहिये कि आप बिना कर्म किये रह नहीं सकते, कहीं उसके फल की इच्छा कर बैठे तो नया बन्धन तैयार हो जायेगा।

आजकल वेदान्त पढ़-पढ़कर शुद्धोऽहं, विशुद्धोऽहं करने लगते हैं पर दिवाला निकल गया तो रोते दिखाई देते हैं। ऐसे शुष्क वेदान्ती मत बनो। अपने अधिकार के अनुसार साधन अपनाओ तो निश्चय ही सफलता मिलेगी। वेदान्त निष्ठा की वस्तु है। बकने की वस्तु नहीं। उसकी निष्ठा पुष्ट करने का अभ्यास करो तब ठीक है नहीं तो निर्मली निर्मली जपो तो जल शुद्ध नहीं होगा। दीपक की चर्चा करने से अंधेरा नहीं हटेगा।

आप लोग ऋषियों की सन्तान हो उनका मार्ग अपनाओ तो कल्याण होगा। परानुकरण से पतन ही हुआ और उससे आगे भी उन्नति की आशा नहीं करनी चाहिये।

जय गुरुदेव

(240)

परमात्मा निष्काम पर प्रसन्न होते हैं। भगवान राम ने बाल्मीकि से पूछा कि हम कहाँ रहें ? बाल्मीकि ने कहा कि कौन सा ऐसा स्थान है जहाँ आप न हों, वहीं हम बता दें रहने के लिये। परन्तु आप पूछते हैं तो बताते हैं—जो निष्काम प्रेमी है। जिसे कभी कोई वासना नहीं, कामना नहीं, सहज ही आपसे प्रेम करता है वहीं आपका घर है। भगवान उसी से प्रेम करते हैं। जो कामना शून्य है। अतः छोटे-छोटे काम की चाहना भगवान से न करो। इन कामों के लिये देवता हैं।

हमने जंगलों में देखा है कि शाबर मंत्रों वाले अधिक लोग रहते हैं। एक मंत्र सिद्ध हो जाय तो लौकिक कार्यों में सहायता मिल सकती है।

तप द्वारा सिद्ध हो सकती है। समाधि के संबंध में आजकल लोग बड़े चिन्तित रहते हैं। योगी बनने की बड़ी आतुरता देखी जाती है। परन्तु इन्द्रियों के भोग तो छूटते नहीं, योग करने की इच्छा करते हैं। स्त्री, पुत्र, परिवार छूटे नहीं। मन का संयम कर लेने पर स्त्री, पुत्र के मध्य में भी योगाभ्यास हो सकता है।

जिसने वायु को जीता ऐसे गुरु की शरण में रहो तो उसके वाक्यों से तुम्हें सफलता प्राप्त हो सकती है। साधक को लवण, सरसों की वस्तु, अम्ल पदार्थ, तिक्त, रुक्ष, अति उष्ण वस्तुओं का त्याग करना चाहिए। गोंद (वृक्ष निर्यास, हींग आदिक) नहीं खाना चाहिये। अग्नि के निकट तथा स्त्री सेवन, पथ, सेवन, नहीं रहना चाहिये।

प्रातः स्नान तथा उपवास भी निषेध है। वस्त्र इत्यादि बदलकर बैठ जाना है। धूप निकलने पर स्नान करेगा। कायक्लेश नहीं होना चाहिये। प्रारम्भ में दुग्ध और घृत अधिक मिलना चाहिये। सिद्ध होने पर इसकी आवश्यकता नहीं परन्तु साधन में अवश्य चाहिये। परन्तु दुग्ध घृत शुद्ध होना चाहिये, अर्थात् उनके अर्जन का प्रकार ठीक हो। संसारी लोग कामना करके सेवा करते हैं। दुग्ध घृत देंगे तो पचास कामनायें बता देंगे तो साधक की बुद्धि एकाग्र नहीं हो सकती। दुर्योधन का अन्न खाकर भीष्म जैसे महात्मा की भी बुद्धि भ्रष्ट हो गई।

(237)

यदि ऐसा सिद्ध गुरु मिल जाय कि वही सब प्रबन्ध कर दे तो हमारा योग चल सकता है। आजकल आहार की अशुद्धि के कारण योग सिद्ध नहीं हो रहा है। योगाभ्यास तो दूर की बात, साधारण माला लेकर बैठते हो तो मन भागा भागा फिरता है क्योंकि आहार बिगड़ा है। खाना ऐसे भी खा सकते हो जैसा किसी गँवार ने जामुन के साथ गुबरोड़ा भी न छोड़ा। यदि आहार शुद्धि के साथ जप जब करोगे तो देवता आपके वश में होकर रहेगा।

“देवो भूत्वा देव यजेत” अर्थात् आचार, विचार, आहार, विहार ठीक करके जप करो। हमारे यहाँ प्राचीन काल में स्त्रियाँ भी योग मार्ग में सिद्ध हुई हैं।

निष्काम भक्ति करो। हनुमान ने राम को अपना ऋणी बना लिया। ईश्वर से कुछ न माँगो। हम लोगों का यह अनुभूत नुस्खा है।

पुराने इतिहासों में जो घटनाएँ लिखी हैं कि अमुक महर्षि को तप करते करते इतना बल प्राप्त हुआ अथवा अमुक का पतन हुआ तो इस पर विचार करना चाहिये। किसी के पतन की बात उसके परोक्ष में भी नहीं कहनी चाहिये। “सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात् न ब्रूयात् सत्यमप्रियं।” किसी अन्धे को अन्धा कहो तो बुरा मानेगा परन्तु उससे सूरदास कहो तो बुरा नहीं मानेगा।

चापलूसी करने की आवश्यकता नहीं है पर अपने शब्दों को ऐसा रक्खो जो सुनने में प्रिय हों।

विचार यह करना है कि ऋषियों का स्त्रियों को देखकर पतित हो जाना मुख से कहना दोष है।

तब फिर लेखनी में लाना तो और भी बुरा है। परन्तु यह इसलिये लिखा गया है कि भविष्य में लोग उन दृष्टान्तों को देखकर सतर्क रहें। वह प्रसंग ही न आने दें जो पतन हो।

शास्त्र कहता है कि माता, पुत्री और भगिनी के साथ भी एकान्त में न बैठें क्योंकि इन्द्रिय ग्राम बड़ा बलवान है, जब अपनी माता और पुत्री के साथ भी अकेले नहीं बैठना चाहिये तब फिर अन्य स्त्रियों अथवा पुत्रियों के साथ शिमला, मंसूरी में सैर सपाटे करना कहाँ तक उचित होगा ?

(238)

सत्य और प्रिय बोलेंगे, तो किसी से व्यर्थ विरोध भी नहीं होगा और सत्य बोलते वाणी में बल आयेगा “सत्यं प्रतिष्ठायां वाक् सिद्धि” पर जिसे दिन भर बोलना ही बोलना है उसे सत्य और प्रिय वचन कहाँ से मिलेंगे ? क्योंकि ऐसे मनोहर वचन जो सत्य भी हों बहुत कम होते हैं। अतः वाणी पर संयम होना चाहिये।

आजकल योग मार्ग की ओर लोगों की रुचि बढ़ रही है। परन्तु योगाभ्यास के पूर्व इन्द्रिय और वाणी पर संयम प्राप्त कर लेना आवश्यक है। सब कुछ प्राप्त किया जा सकता है, पर जब ठीक उपाय किया जाय। आजकल डॉक्टर लोग किसी रोगी को असाध्य बताकर उसे निराश कर देते हैं। परन्तु उसके लिये असाध्य है तो यह नहीं कहा जा सकता कि सबके लिये असाध्य है। ईश्वर और जीव इस प्रकार हैं जैसे बाग और पेड़। यदि बाग से पेड़ अलग कर लें तो बाग ही न रह जाय।

भगवान सनातनधर्म की रक्षा के लिये अवतार लेते हैं। सनातन धर्म समुद्र है और भिन्न-भिन्न मतान्तर तरंग। समुद्र से तरंग उठकर बाहर जाती है और वहाँ से गन्दगी समेट लाती है। ईश्वर और जीव में भी समुद्र और तरंग का सम्बन्ध है।

जीव ही सीव है, सीव ही जीव है। सीव परमात्मा को कहते हैं। श्रुति कहती है कि ईश्वर ने सृष्टि को रचा और जीव रूप से उसमें प्रवेश कर गया। “ईश्वरों जीव कलया प्रविष्टो” यह पुराण वाक्य है। जब तक भूमी लगी रहती है तब तक धान है और भूमी अलग होने पर तन्दुल (चावल) हो जाता है। यद्यपि धान में तन्दुल पहले ही था जब तक कर्म लगा है तब तक जीव है कर्म नष्ट होने पर यही सीव है। अन्तर करने वाला यही पाश है। धान में अंकुर होता है जल मृत्तिका का योग देने से परन्तु चावल में मनों जल और मृत्तिका का योग दो अंकुर नहीं हो सकता। अंकुर होना है गर्भवास में आना। जब जीव ही सीव है तब यह कर्मपाश क्यों न हटाये जो उसे परमात्मा से दूर रखता है।

परन्तु कर्मपाश दूर होगा सत्संग और भक्ति से। सत्संग के अभाव में द्रौपदी यह न सोच सकी कि कृष्ण भगवान व्यापक हैं। इसीलिये उसने उन्हें द्वारिका से पुकारा। तात्पर्य यह कि अपने इष्ट को दूर न मानो। निकट से निकट देखो। यह कर्मपाश दूर किये बिना ही कोई अपने को ब्रह्म समझने लगे तो यह ठीक नहीं।

(239)